विधानार्थम् । आश्विनवाक्यं कालगुणविधानाऽर्थम् । कथम् ? तेन वपाप्रचारेण उत्कृष्टस्य काल एष विधीयते प्रातः सवने वपाप्रचारे चोदिते सति पश्वालम्भोऽपि तत्रैव प्राप्नोति । तत्र कालानियमे प्राप्ते **आश्विनं ग्रहं गृहीत्वेति** कालमात्रं विधीयते । **त्रिवृता यूपं परिवीयोपाकरोति** इत्यनुवादः । इतरथा हि परिव्याणस्य कालो विधीयेत, उपाकरणस्य च । तत्रानेकगुणविधानाद् वाक्यं भिद्येत । तस्मात् सवनीयार्थाः पशुधर्मा इति ॥१२॥

नैकदेशत्वात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०)

नैतदेवम् । अग्नीषोमीयार्था एवैते क्रमात् । आश्विनकालं हि आम्नानं विधानार्थम् । गुणार्थे एतस्मिन् वाक्यं भिद्येत, न विधानाऽर्थे । न हि वपाप्रचारेणोत्कृष्टस्य कालविधिः सम्भवति । एकदेशो हि वपाद्रव्यम् । तेन सन्निपातिनो वपा-संस्कारान् उत्कर्षेन्नोपाकरणम्[1] ॥२२॥

पशु के लिये हैं । पहले दिन [सवनीय पशुओं] का पाठ विधान के लिये है । और 'आश्विन' वाक्य कालरूप गुण के विधान के लिये है । कैसे ? उस वपाप्रचार से [अनुष्ठानार्थ पांचवें दिन] उत्कर्ष किये गये (=प्राप्त कराये गये) पशु के काल का यह विधान किया जाता है । प्रातः सवन में वपा प्रचार के कहने पर पशु का आलम्भन भी वहीं (=पांचवें दिन) प्राप्त होता है । उस में काल का नियम प्राप्त न होने पर आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा **इस वचन से कालमात्र का विधान किया जाता है ।** त्रिवृता यूपं परिवीय उपाकरोति **(=तीन लड़वाली रस्सी से यूप को लपेट कर उपा-करण करता है) यह अनुवाद है । अन्यथा परिव्याण (=रस्सी लपेटने) के काल का विधान किया जावे और उपाकरण का भी । उस अवस्था में अनेक गुणों के विधान से वाक्यभेद होवे । इस कारण सवनीय पशु के लिये पशुधर्म हैं ।।२१।।**

नैकदेशत्वात् ।। २२ ।।

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है, अर्थात् सवनीय पशु के पशुधर्म नहीं है । (एकदेशत्वात्) वपा के एकदेश होने से [वह वपा के संस्कारों को उत्कृष्ट करे, उपाकरण का उत्कर्ष न करे] । अतः क्रम से अग्नीषोमीय के ही पशुधर्म हैं ।

व्याख्या—**इस प्रकार नहीं हैं अर्थात् सवनीय के पशुधर्म नहीं हैं । क्रम से अग्नीषोमीय पशु के लिये ही हैं । आश्विन काल का पाठ सवनीय पशु के विधान के लिये है । इस वाक्य को गुणार्थ (=काल-विधानार्थ) मानने पर वाक्यभेद होगा, विधानार्थ मानने पर वाक्यभेद नहीं होगा । वपा के प्रचार से उत्कृष्ट हुए [सवनीय पशु के अनुष्ठान] के काल की विधि सम्भव नहीं है । क्योंकि वपा द्रव्य [पशु का] एकदेश है [अर्थात् एकदेश के निर्देश से सम्पूर्ण पशु द्रव्य का उत्कर्ष नहीं होगा] । इस कारण [वपा-प्रचार] अपने समीप में पढ़े गये वपा के संस्कारों का उत्कर्ष करेगा, उपाकरण का उत्कर्ष नहीं करेगा ।**

---

१. 'संस्कारादुत्कर्षेणोपाकरणम्' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः ।

अर्थेनेति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०)

आह—अर्थेन तर्हि उत्कृष्टस्य कालो विधीयते । **मुष्टिना पिधाय वपोद्धरणमासीत आ वपाहोमाद्** इति श्रूयते । पूर्वेद्युर्वपोद्धरणं मुष्टिना पिधाय न शक्नुयादेतावन्तं कालमासीनेन अवस्थातुम् । अवश्यमाहारविहारादयस्तेन कर्त्तव्या इति ॥२३॥

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ २४ ॥ (आ० नि०)

नैतदेवं, श्रुतिविप्रतिषेधो भवेदेवम् । न च श्रुतिविप्रतिषेधः । तृणमुष्टिना

विवरण—**सन्निपातिनो वपासंस्कारात्** आगे पञ्चम अध्याय में कहेंगे—**तदादि वाऽभि-संबन्धात् तदन्तमपकर्षे स्यात्** (मी० ५।१।२४) अर्थात् अपकर्ष होने पर उस के आदि से सम्बन्ध होने से उस से सम्बद्ध कर्मों के अन्त तक भाग का ही अपकर्ष होवे । इससे वपाप्रचार से वपा के साथ पढ़े गये संस्कार कर्मों का ही उत्कर्ष होगा, उस से पूर्व पठित उपाकरण आदि कर्मों का उत्कर्ष नहीं होगा ॥२२॥

अर्थेनेति चेत् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थः—(अर्थेन) प्रयोजन वश (इति चेत्) ऐसा होवे तो । अर्थात् सवनीय पशु की वपा का उद्धरण पूर्व = चतुर्थ दिन होने पर पांचवें दिन आश्विन ग्रह के ग्रहण पर्यन्त वपा को मुट्ठी से ढककर बैठा नहीं जा सकता है । अतः वपाप्रचार से पशु के उपाकरण का भी उत्कर्ष होगा ।

व्याख्या—[इस विषय में] **कहते हैं—प्रयोजनवश उत्कृष्ट हुए सवनीय पशु के काल का ही विधान किया है ।** मुष्टिना पिधाय वपोद्धरणमासीत आ वपाहोमात् (**= वपा के उद्धरण को = निकाली गई वपा को मुट्ठी से आच्छादित करके शमिता = पशु को मारने वाला वपा के होम काल तक बैठा रहे) ऐसा सुना जाता है । पहले दिन (= चतुर्थ दिन) किये गये वपा के उद्धार को मुट्ठी से आच्छादित करके इतने काल तक (= पांचवे दिन वपा होम के काल तक) बैठे हुए से बैठा नहीं जा सकता है । आहार विहार आदि उस (= मुट्ठी से ढक कर बैठे हुए शमिता) को अवश्य करने होंगे ।**

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है (श्रुतिविप्रतिषेधात्) श्रुति का विरोध होने से ।

विशेष—सुबोधिनी वृत्ति में **नाश्रुतिविप्रतिषेधात्** सूत्र का पाठ है । इसका अर्थ होगा—पूर्व युक्ति से अङ्गों का आर्थिक उत्कर्ष (न) नहीं है । (अश्रुतिप्रतिषेधात्) तृण मुष्टि आदि से वपोद्धार का विधान होने पर उक्त श्रुति का विरोध नहीं होता है ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है अर्थात् वपा के उद्धार को मुट्ठी से ढक कर वपा के होमकाल

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

पर्णमुष्टिना वा पिधायिष्यते । ननु आस्ते इत्युपवेशने भवति । नाऽवश्यमुपवेशने एव, औदासीन्येऽपि दृश्यते । तद् यथा—गृहाणि[1] परिगृह्य आस्ते, क्षेत्राणि परिगृह्य आस्ते इत्यनुपवेशनेऽपि भवति व्यापारनिवृत्तौ । इहापि तृणमुष्टिना पर्णमुष्टिना वा पिधाय आ वपाहोमादुदासिष्यते । तस्मादाश्विनकालमाम्नानं विधानार्थं, न सवनीयानां प्रकरणे पशुधर्म्माः । तस्मान्न सवनीयार्थाः ॥२४॥

स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ २५ ॥ (उ०)

नास्ति सवनीयानां प्रकरणमित्येवं सति पूर्वेणैव हेतुना स्थानेन पूर्वस्याग्नीषोमी-

---

पर्यन्त बैठे । ऐसा मानने पर पूर्व उक्त श्रुति का विरोध होवे । श्रुति का विरोध नहीं है । तिनकों की मुट्ठी से अथवा पत्तों की मुट्ठी से वपा के उद्धार को ढक देंगे । (आक्षेप) 'आस्ते' यह कथन बैठने अर्थ में होता है [इस से शमिता को चतुर्थ दिन वपोद्धार से पञ्चम दिन वपा होम तक बैठना ही होगा । वैसा न कर सकने पर श्रुति का विरोध होगा ही] । 'आस्ते' यह कथन उपवेशन=बैठने में ही नहीं देखा जाता है । औदासीन्य (=उदासीन रहने) अर्थ में भी देखा जाता है जैसे—गृहाणि परिगृह्य आस्ते, क्षेत्राणि परिगृह्य आस्ते **(घरों पर वा क्षेत्रों पर अधिकार करके बैठता है) यह (=आस्ते) व्यापार की निवृत्ति में अनुपवेशन (=बैठना अर्थ में न होता हुआ) भी होता है [अर्थात् गृह और क्षेत्र सम्बन्धी कार्य न करता हुआ उन के प्रति उदासीन रहता है ।] इसी प्रकार यहां भी तिनकों की मुट्ठी वा पत्तों की मुट्ठी से [वपा के उद्धार को] ढक कर वपा होम तक उदासीन रहेगा । इस कारण (=इस प्रकार श्रुति का विरोध न होने से) आश्विन काल का पाठ सवनीय पशु के विधान के लिये ही है । सवनीय के प्रकरण में पशुधर्म नहीं पढ़े हैं । इस लिये सवनीय पशु के धर्म नहीं हैं ।**

विवरण—तृणमुष्टिना पर्णमुष्टिना वा—तुलना करो—**मूलकपणः शाकपणः । संव्यवहाराय मूलकादीनां यः परिमितो मुष्टिर्बध्यते तस्येदमभिधानम्** (काशिका ३।३।६६) अर्थात् बेचने के लिये मूली वा पालक आदि शाक की जो परिमित मुट्ठी=गड्डी बांधी जाती है उसे मूलकपण शाकपण से कहा जाता है । इसी प्रकार यहां भी तिनकों और पत्तों की मुट्ठी का तात्पर्य है—कुछ तिनकों वा पत्तों की बन्धी हुई गड्डी ॥ २४ ॥

स्थानात् तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥२५।

सूत्रार्थः—'तु' शब्द यहां अवधारण अर्थ में है । (स्थानात्) स्थान से=क्रम से (पूर्वस्य) पूर्व पठित अग्नीषोमीय के (तु) ही उपाकरणादि धर्म हैं । (**संस्कारस्य**) उपाकरणादि संस्कारों के (तदर्थत्वात्) पशु के लिये होने से अर्थात् उपकरणादि संस्कार पशुयाग प्रयुक्त हैं, ज्योतिष्टोम प्रयुक्त नहीं हैं । अतः क्रम प्रमाण से उपाकरणादि धर्म अग्नीषोमीयपशु के ही हैं । सवनीयपशु के नहीं हैं ।

व्याख्या—सवनीय पशुओं का प्रकरण नहीं है ऐसा होने पर पूर्व (१९ सूत्र पठित) स्थान-

---

१. 'गृह्याणि' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः ।

यस्य भवितुमर्हति। संस्कारोऽयं पशुयागप्रयुक्तः, न ज्योतिष्टोमप्रयुक्तः। ज्योतिष्टोमप्रयुक्तत्वे न विशेषः पशूनां स्यात्। पशुयागा अपि हि धर्म्मान् प्रयोक्तुमपूर्वत्वात् समर्थाः, प्रकरणवन्तश्च। तस्मात् क्रमादग्नीषोमीयधर्म्मा इति ॥२५॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २६ ॥ (उ०)

इतश्च पश्यामोऽग्नीषोमीयार्थाः पशुधर्म्मा इति। कुतः? लिङ्गदर्शनात्। लिङ्गमस्मिन् अर्थे भवति—**वपया प्रातः सवने चरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने** इति पशुपुरोडाशं दर्शयति। इतरथा समानविधानेषु सर्वेषु पशुष्वग्नीषोमयोर्देवतयोः संस्कारार्थः सन् पुरोडाशः सामर्थ्यादग्नीषोमीयस्य भवेद्, न सवनीयस्य। तयोर्देवतयोरभावात्। दर्शयति च। तस्मादग्नीषोमीयार्था इति ॥२६॥

रूप हेतु से पूर्व अग्नीषोमीय के ही उपाकरणादि धर्म हो सकते हैं। यह उपाकरणादि संस्कार पशुयाग से प्रयुक्त है, ज्योतिष्टोम से प्रयुक्त नहीं है। ज्योतिष्टोम से उपाकरणादि संस्कारों के प्रयुक्त होने पर पशुओं का विशेष नहीं होगा [अर्थात् सब पशुओं से सम्बद्ध होंगे]। पशुयाग भी अपूर्व होने से उपाकरणादि धर्मों को प्रयोजित करने में समर्थ हैं और वे प्रकरणवाले भी हैं। इस कारण क्रम से अग्नीषोमीय पशु के धर्म हैं॥ २५ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥

सूत्रार्थः (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग से दर्शन से (च) भी अग्नीषोमीय पशु के उपाकरणादि धर्म हैं।

व्याख्या—इस से भी जानते हैं कि अग्नीषोमीय पशु के लिये ही पशुधर्म हैं। किस से? लिङ्ग के दर्शन से। इस विषय में लिङ्ग होता है—वपया प्रातः सवने चरन्ति पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने =वपा से प्रात. सवन में अनुष्ठान करते हैं, पुरोडाश से माध्यन्दिन में यह वचन पशुपुरोडाश को दर्शाता है। अन्यथा (=ज्योतिष्टोम-प्रयुक्त पशुधर्मों को मानने पर) सब पशुओं के समान विधान वाले होने से अग्नि और सोम देवताओं के संस्कार के लिये होता हुआ पुरोडाश सामर्थ्य से अग्नीषोमीय पशु का ही होवे, सवनीय पशु का न होवे। सवनीय पशु के उन (=अग्नि और सोम) देवताओं के न होने से। परन्तु सवनीय पशु के पुरोडाश का अनुष्ठान भी उक्त वचन दर्शाता है। इसलिये अग्निषोमीय पशु के लिये ही है।

विवरण—**अग्नीषोमयोर्देवतयोः संस्कारार्थः सन्**—पशु-पुरोडाश याग पशुयाग के देवता के संस्कार के लिये है। यह आगे अ० १० पा० १ अधि० ६ में कहेंगे। अग्नीषोमीय पशु के प्रकरण में पढ़ा है—**अग्नीषोमीयस्य वपया प्रचर्याग्नीषोमीयं पुरोडाशमनुनिर्वपति** (=अग्नि और सोम देवता वाले पशु की वपा से अनुष्ठान करके अग्नीषोमीय पुरोडाश का निर्वाप करता है) तथा **अग्नीषोमाभ्यां पुरोडाशस्यानुब्रूहि** इत्यादि अग्नीषोम लिङ्ग वाले मन्त्र पढ़े हैं। **समानविधानेषु सर्वेषु**—इस का भाव यह है कि पशुधर्मों को सभी पशुओं के समान धर्म का विधान मानने पर

अचोदना गुणार्थेन ॥ २७ ॥

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। आह—ननु छिद्रापिधानार्थः पशुपुरोडाशः। नेति ब्रूमः। अचोदना गुणार्थेन। तस्य छिद्रापिधानार्थेन न चोदना। अर्थवादः स इत्युक्तम्[1]। तस्माद् देवतासंस्कारार्थः। तस्मादग्नीषोमीयार्थत्वे सवनीये पुरोडाशस्य दर्शनमुपपद्यते, न साधारण्ये। तस्मादग्नीषोमीयार्थाः पशुधर्म्मा इति ॥२७॥ **उपाकरणादीनामग्नीषोमीयधर्मताधिकरणम् ॥७॥**

अग्नीषोमीय पुरोडाश के अग्नि-सोम देवता के संस्कारार्थ होने से सवनीय पशु में पुरोडाश की प्राप्ति नहीं होगी सवनीय पशु के अग्निसोम देवता न होने से। इस अवस्था में सुत्या के दिन कहे पशु-पुरोडाश की प्राप्ति ही नहीं होगी। यदि कहो कि अतिदेश से सवनीय पश्वर्थ पशु-पुरोडाश की प्राप्ति देवता के ऊह से होगी, यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि पशुधर्मों की सब पशुओं के लिये प्राप्ति ज्योतिष्टोम रूप एक प्रकरण को मान कर कही हैं। ज्योतिष्टोम प्रकृति याग है। प्रकृति याग में ऊह नहीं होता है। अग्नीषोमीय के पशुधर्म मानने पर सवनीय में पशु-पुरोडाश का दर्शन उपपन्न होता है। उस में सवनीय देवता के संस्कारार्थ अतिदेश वाक्य से पुरोडाश की प्राप्ति हो जायेगी। तात्पर्य यह है कि पशुधर्मों को अग्नीषोमीय के धर्म मानने पर जो-जो अङ्गभूत संस्कार कर्म अग्नीषोमीय के कहे हैं वे उसके प्रकृतिरूप होने से चोदकवचन से अन्य पशुयागों में उपस्थित हो जायेंगे। इस प्रकार अग्नीषोमीय पशु के वपा-प्रचार के अनन्तर कहा देवतासंस्कारक पुरोडाश सवनीय पशु में भी प्राप्त हो जायेगा ॥२६॥

अचोदना गुणार्थेन ॥२७॥

सूत्रार्थः—यदि कहो कि पशु-पुरोडाश वपा के उत्खनन से हुए छिद्र की पूर्ति के लिये है—**छिद्रापिधानार्थः पशुपुरोडाशः**। तो यह ठीक नहीं। (गुणार्थेन) छिद्रापिधानरूप गुण के प्रयोजन से (अचोदना) पशुपुरोडाश का विधान नहीं है। क्योंकि **छिद्राधिनार्थः पशुपुरोडाशः** यह अर्थवाद है। अतः पशुपुरोडाश पशुदेवता के संस्कारार्थ है।

व्याख्या—**यह कुछ पदों के पश्चात् सूत्र है [अर्थात् कुछ पदों को मन में रखकर सूत्र पढ़ा है] पूर्वपक्षी कहता है कि पशुपुरोडाश [वपानिकालने से उत्पन्न] छिद्र को ढकने के लिये है। [छिद्र के पिधान के लिये] नहीं है ऐसा हम कहते हैं। [छिद्र-पिधान] गुण के प्रयोजन से पुरोडाश का विधान नहीं है। उस (=पशुपुरोडाश) के छिद्र को ढकने के लिये विधान नहीं है। वह अर्थवाद है यह हम कह चुके। इसलिये पशुपुरोडाश देवता के संस्कार के लिये है। इस कारण अग्नीषोमीय पशुयाग के देवता संस्कारार्थ होने पर सवनीय में भी [सवनीय पशु के देवता के संस्कार के लिये] पुरोडाश का दर्शन (=पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने) उपपन्न होता है। पशुधर्मों के साधारण मानने पर उपपन्न नहीं होता। इस कारण अग्नीषोमीय पशु के लिये पशुधर्म हैं ॥२७॥**

---

१. कुत्रोक्तमिति तु न ज्ञायते।

[शाखाहरणादीनामुभयदोहधर्मताधिकरणम् ।।८।।

अस्ति सायं दोहः, तथा अस्ति प्रातर्दोहः । सन्ति तु दोहधर्माः—शाखाहरणं, गवां प्रस्थापनं, प्रस्नावनं, गोदोहनमित्येवमादयः । ते किं सायं दोहार्थाः, उत उभयार्था इति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०)

दोहयोस्तयोरसंयुक्तं धर्म्मैः शृतं भवेत् । कस्मात् ? सायं दोहस्य हि क्रमे औप-

---

व्याख्या—[दर्शेष्टि में] सायं दोह है और प्रातः दोह है । तथा दोह के धर्म भी हैं—शाखाहरण, गौवों का प्रस्थापन, प्रस्नावन, गोदोहन आदि । वे दोहधर्म सायं दोह के लिये हैं, अथवा दोनों (=सायं प्रातः) दोह के लिये ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अस्ति सायं दोहः दर्शेष्टि दो प्रकार की है । एक में सान्नाय्य (=दधि दूध) हवि होती है और दूसरी में पुरोडाश । सोमयाजी ही सान्नाय्य हवि का अधिकारी है - **सोमयाजी सन्नयेत** (कात्या० श्रौत ४।२।४५)। तै० सं० २।५।५ में असोमयाजी के लिये सान्नाय्य हवि का प्रत्यक्ष निषेध किया है—**नासोमयाजी सन्नयेत** । किन्तु किन्हीं के मत से कामनापूर्वक असोमयाजी को भी सान्नाय्य का अधिकार है—**कामादितरः** (कात्या० श्रौत ४।२।४६) । सान्नाय्य हविवाले को औपवसथ्य अहः (इष्टि से पूर्व अमावास्या) में सायं काल को गोदोहन करके अगले दिन लिये दही जमाना होता है । **अस्ति प्रातर्दोहः**— दूधरूप हवि के लिये प्रातः भी गौ का—दोहन करना होता है । **शाखाहरण**—अमावास्या के दिन पलाश की अथवा शमी (=खेजड़े) की शाखा काट कर लाई जाती है । इससे दोहन से पूर्व तथा दोहन के लिये गाय को पसीजवाने के लिये छोड़े गये दूध पीते हुए बछड़े को हटाकर शाखा से स्पर्श करना होता है । **गवां प्रस्थापनम्** दोहन के पश्चात् गौवों को यथा स्थान भेजना । **प्रस्नावनम्** स्तनों में दूध उतारने अर्थात पसीजने के लिये गौवों के स्तनों पर हाथ फेरना ।

दोहयोः कालभेदाद् असंयुक्तं शृतं स्यात् ।।२८।।

सूत्रार्थः—(दोहयोः) सायं प्रातः दोनों दोहों के काल का भेद होने से सायं गोदोह के प्रकरण में दोहधर्मों का निर्देश होने से प्रातर्दोह का (शृतम्) दूध दोहधर्मों से (असंयुक्तम्) असंयुक्त (स्यात्) होवे । अर्थात् प्रातःकाल के दोहन में दोहधर्म न होवे ।

विशेष—शृतम्—यह 'श्रा पाके' का क्तान्त रूप है । दूध और हवि के पाक में इस का प्रयोग होता है । (द्र०—शृतं पाके (अष्टा० ६।१।२७) की व्याख्या) । यहां शृत से प्रातर्दोह से प्राप्त दूध मात्र अभिप्रेत है, न कि पकाया हुआ दूध ।

व्याख्या—उन दोनों दोहों के धर्मों से शृत (प्रातः का दूध) असंयुक्त होवे । किस हेतु से ? सायं दोह के क्रम में औपवसथ्य दिन में शाखाहरण आदि धर्मों को पढ़ते हैं । और उसी

वसथ्येऽहनि शाखाहरणादीन् समामनन्ति। तस्मिन्नेवाहनि सायं दोहः। तस्मात् क्रमात् सायं दोहार्था दोहधर्म्मा इति ॥२८॥

प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥ २९ ॥ (उ०)

प्रकरणं हि साधारणम्। यथैव दध्नः, एवं पयसः। क्रमाच्च प्रकरणं बलवत्तरम्। तस्मादुभयार्था दोहधर्माः। अपि च, न सायं दोहस्य पूर्वेद्युराम्नानम्। क्व तर्हि? उत्तरेद्युः। कथम्? एवमामनन्ति—ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्,[1] ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्[2] इति। अमावास्यायां हि उभयं साङ्गं चोद्यते। स एष सायं दोहोऽर्थात् पूर्वेद्युरनुष्ठीयते। स्वभाव एष दध्नो यत् पूर्वेद्युरुपक्रान्तमपरेद्युरभिनिर्वर्तते। तस्मात् सायं दोहस्य क्रमे आम्नाता इत्येतदेव तावन्नास्ति। अत उभयार्था दोहधर्मा इति ॥२९॥ शाखाहरणादीनामुभयदोहधर्मताधिकरणम् ॥८॥

—:०:—

दिन सायं काल गोदोहन है। इस कारण क्रम (=स्थान) से सायं दोह के लिये दोहधर्म हैं ॥२८॥

प्रकरणाविभागाद् वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द 'पूर्व दोहधर्म सायं दोह के है, प्रातः के नहीं' इस पक्ष की निवृत्ति करता है। (प्रकरणाविभागात्) प्रकरण के समान होने से (तत्संयुक्तस्य) दधि पयः रूप अङ्गों से संयुक्त प्रधानयाग का (कालशास्त्रम्) काल विधायक शास्त्र है। अर्थात् दर्शेष्टि महाप्रकरण में पठित दोहधर्म सायं और प्रातः दोनों दोह के है क्योंकि दधि पयः अङ्गों से संयुक्त प्रधान याग के काल का विधायक शास्त्र है।

व्याख्या—प्रकरण साधारण (=समान) है। जैसे दही का है वैसे ही दूध का है। क्रम से प्रकरण बलवान् होता है। इस कारण दोनों के लिये दोहधर्म है। और भी, सायं दोह का पूर्व दिन में पाठ नहीं है। तो कहां है? उत्तर दिन (=याग के दिन) में। कैसे? इस प्रकार पढ़ते हैं—ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्, ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम् (ऐन्द्र=इन्द्र देवता वाला दही अमावास्या में होता है, ऐन्द्र दूध अमावास्या में होता है)। अमावास्या में दोनों साङ्ग कहे गये हैं। वह सायं दोह प्रयोजन-सिद्धयर्थ पूर्व दिन किया जाता हैं। क्योंकि दही का यह स्वभाव है कि पूर्व दिन प्रारम्भ किया हुआ (=जमाया हुआ) दूसरे दिन तैयार होता है। इस कारण 'सायं दोह के क्रम में दोहधर्म पढ़े हैं' यही पहले नहीं है। अतः दोहधर्म उभयार्थ (=दोनों सायं प्रातः दोहों के लिये) हैं ॥२९॥

विशेष—इस विचार का प्रयोजन यह है कि यदि पूर्वपक्षानुसार शाखाहरणादि सायं दोह के धर्म होवें तो दधिनिष्पत्ति के अनन्तर कथंचित् शाखा के नाश हो जाने पर प्रातर्दोह के समय

१. तै० सं० २।५।४।१॥ २. अनुपलब्धमूलम्

[सादनादिग्रहधर्माणां सवनत्रयधर्मताधिकरणम् ॥९॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**[1] इति। तत्रैन्द्रवायवाद्या ग्रहाः प्रातःसवने दश आम्नाताः। तत्र धर्मा श्रूयन्ते—**उपोप्तेऽन्ये ग्रहाः साद्यन्ते, अनुपोप्ते ध्रुवः**[2]। **दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि**[3] इति। सन्त्यपरे माध्यन्दिने सवने, अपरे तृतीयसवने ग्रहाः। तेषु माध्यन्दिनीयेषु तार्त्तीयेषु च सवनेषु सन्देहः—किं सर्वेषु ग्रहधर्माः कर्त्तव्याः, उत प्रातःसवने ये ग्रहास्तेष्विति? किं प्राप्तम्? प्रातःसवनग्रहेषु भवेयुः। तेषां क्रमे समाम्नानाद्[4], नेतरेषाम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

शाखान्तर की उत्पत्ति नहीं होगी, उपायान्तर से वत्सों का अपाकरण करना चाहिये। सिद्धान्त पक्ष में उभयकाल दोह के धर्म होने पर दधिनिष्पत्यनन्तर शाखा का नाश हो जाने पर प्रातर्दोह के लिए शाखान्तर लानी चाहिये

—:०:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम** का विधान है ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे)। उसमें ऐन्द्रवायव आदि दश ग्रह प्रातःसवन में में पठित हैं। वहां उन ग्रहों के धर्म सुने जाते हैं। उपोप्तेऽन्ये ग्रहाः साद्यन्ते अनुपोप्ते ध्रुवः उपोप्त स्थान में अन्यग्रह रखे जाते है,अनुपोप्त में ध्रुव ग्रह। दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि (दशापवित्र से ग्रह का सम्मार्जन करता है। माध्यन्दिन सवन में अन्य ग्रह हैं, और तृतीय सवन में अन्य ग्रह हैं। उन माध्यन्दिन और तृतीय सवन में होने वाले ग्रहों में सन्देह है क्या सभी ग्रहों में ग्रहों के धर्म करने चाहियें अथवा प्रातः सवन में जो ग्रह है, उन में ही। क्या प्राप्त होता है? उन (= प्रातः सवन के ग्रहों) के क्रम में ग्रह-धर्मों का पाठ होने से [उन्हीं के धर्म करने चाहिये] अन्य ग्रहों के नहीं करने चाहियें। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण – **ऐन्द्रवायवाद्या ग्रहा दश**—प्रातः सवन में गृह्यमाण दश ग्रह हैं—१. ऐन्द्रवायव, २. मैत्रावरुण, ३. शुक्र, ४. मन्थी, ५. आग्रयण, ६-७-८ अतिग्रह (आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य), ९. उक्थ्य, १० आश्विन (द्र० भाग २, पृष्ठ ४८१', ४८६)। **उपोप्तेऽन्ये ग्रहाः साद्यन्ते अनुपोप्ते ध्रुवः**—उपोप्त से यहां अभिप्राय उस स्थान से है जो उपरव संज्ञक स्थान से ४५ अङ्गुल के अनन्तर पूर्व दिशा में स्फ्य से उल्लिखित=रेखाङ्कित बाहुमात्र अथवा अरत्निमात्र (२२ अङ्गुल) स्थान को जल से सिंचित करके उस स्थान में बालू बिछाकर एक अङ्गुल अथवा चार अङ्गुल 'खर' संज्ञक

---

१. द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौत० १०।२।१॥

२. तै० सं० ६।५।२॥ मै० सं० ४।६।६॥ काशीमुद्रिते 'ध्रुवाः' इत्यपपाठः।

३. अनुपलब्धमूलम्। तुलनीयम्—दशापवित्रेण परिमृज्य परिमृज्य एष ते योनिः' इति ग्रहासादनम्॥ कात्या० श्रौत ६।५।२३॥

४. 'समाम्नाताः' पाठान्तरम्।

तद्वत् सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥३०॥ (उ०)

सवनान्तरे प्रातःसवनान्माध्यन्दिने तृतीयसवने च ग्रहाम्नानं तद्वदेव भवितुमर्हति। सर्वेषां हि तुल्यं प्रकरणम्। यत्रैते धर्माः समाम्नाताः वाक्येन ग्रहमात्रस्य विधीयन्ते। क्रमाच्च वाक्यप्रकरणे बलीयसी। तस्मात् सर्वार्था ग्रहधर्मा इति ॥३०॥ **सावनादिग्रहधर्माणां सवनत्रयधर्मताधिकरणम् ॥९॥**

—:o:—

[रशनात्रिवृत्त्वादीनां पशुधर्मताधिकरणम् ॥१०॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः — **यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते**' इति। तत्र रशना श्रूयते, रशनाधर्माश्च — त्रिवृद् भवति, दर्भमयी भवति, प्रविष्टान्ता कर्त्तव्या

स्थण्डिल (=थड़ा) बनाया जाता है। इस पर सोमरस से भरे ग्रह पात्र रखे जाते हैं। 'उपोप्त' शब्द का अर्थ सत्याषाढ (हिरण्यकेशीय) श्रौत ४।५।५६ (पृष्ठ ४४४) में इस प्रकार दर्शाया है— **यत्र चार्द्रमनुगतं भवति तदुपोप्तम्।** अर्थात् यहां आर्द्र=गीला स्थान बालु आदि से आच्छादित हो वह उपोप्त कहाता है। **अनुपोप्ते ध्रुवः-उपोप्त**=खर स्थान से अन्यत्र भूमि पर ध्रुव ग्रह रखा जाता है। ध्रुव ग्रह तृतीय सवन में होता है। **दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि**—विवरण देखो मी० भाष्य ३।१।१३॥ भाग २, पृष्ठ ६६९॥

तद्वत् सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(तद्वत्) दर्शस्थ शाखा-हरणादि गोदोह तथा धर्मों के समान (सवनान्तरे) अन्य माध्यन्दिन और तृतीय सवन में भी (ग्रहाम्नानम्) ग्रह धर्मों का कथन जानना चाहिये। क्योंकि जहां ग्रह धर्मों का विधान है वह, ज्योतिष्टोमरूप महाप्रकरण से सब सवनों का तुल्य है।

व्याख्या—**अन्य सवन में प्रातः सवन से माध्यन्दिन और तृतीय सवन में ग्रहों (=ग्रह धर्मों) का आम्नान उसी प्रकार हो सकता है। सभी का तुल्य प्रकरण है। जहां ये धर्म पठित हैं, वाक्य से ग्रहमात्र के विधान किए जाते हैं। क्रम से वाक्य और प्रकरण बलवान् हैं। इसलिये सभी सवनों के लिए ग्रह-धर्म हैं** ॥३०॥

—:o:—

व्याख्या—**अग्निष्टोम में अग्नीषोमीय पशु का विधान है—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते (=**जो दीक्षित अग्नीषोमीय पशु का आलभन करता है)। वहां रशना (=पशु को बांधने की रस्सी) सुनी जाती है, रशना के धर्म भी। [न रशना] त्रिवृत् (=तीन लड़ी) होती हैं, दर्भ की बनी हुई होती है, और उसे प्रविष्टान्त करना चाहिये। उन में सन्देह होता**

---

१. तै० सं० ६।१।११।६॥

चेति। तत्र सन्देहः–किमेते धर्मा अग्नीषोमीयरशनायाः सवनीयरशनायाश्च साधारणाः, उताग्नीषोमीयरशनाया एवेति ? किं प्राप्तम् ? प्रकरणादग्नीषोमीयरशनाया इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

रशना च लिङ्गदर्शनात् ॥३१॥ (उ०)

उभयोः साधारणा इति। कुतः ? लिङ्गदर्शनात्। लिङ्गं भवति। एवमाह—**आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं[1] पशुमुपाकरोति[2]** इति सवनीयपरिव्याणे रशनां दर्शयति। सा यदि साधारणी, तत एतद् दर्शनमवकल्पते। यद्यग्नीषोमीयायाः, ततोऽप्राकृतात् सवनीयपरिव्याणान्निवर्त्तेत। सवनीये च परिव्याणान्तरमप्राकृतं यत्र त्रिवृत्त्वं दृश्यते। कथम् ? **स वै आश्विनं ग्रहं गृहीत्वोपनिष्क्रम्य यूपं परिव्ययति[3]** इति। तत्र

है—क्या ये धर्म अग्नीषोमीय पशु की रशना के और सवनीय पशु की रशना के साधारण हैं, अथवा अग्नीषोमीय पशु की रशना के ही हैं। क्या प्राप्त होता है ? प्रकरण से अग्नीषोमीय पशु की रशना के हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं

विवरण—यूप की रशना तीन लड़वाली तीन व्याम (=दोनों हाथों को फैलाने से जो परिमाण होता है। उसे व्याम करते है) परिमाण की होती है। और पशु रशना (=पशु को बांधने की रस्सी) दो लड़ की दो व्याम परिमाण की होती है। **प्रविष्टान्ता कर्त्तव्या**–यूप के यजमान की नाभि के बराबर उच्च स्थान में रस्सी लपेट कर रस्सी के दानों छोरों को मिलाकर लपेटी हुई रस्सी के नीचे खसोला जाता (द्र० कात्या० श्रौत ६।३।१४, विद्याधर टीका)।

रशना च लिङ्गदर्शनात् ॥३१॥

सूत्रार्थः–(रशना) रशना=यूप को लपेटने की रज्जु (च) भी साधारण है=अग्नीषोमीय और सवनीय यूप की समान है। (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से। **आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय** में त्रिवृत्त्व के अनुवाद से सवनीय में भी रशना देखी जाती है।

व्याख्या—**रशना दोनों की साधारण है। किस हेतु से ? लिङ्ग के दर्शन से। लिङ्ग होता है। ऐसा कहा हैं**—आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति (=**आश्विन ग्रह का ग्रहण करके तीन लड़ी रज्जु से यूप को लपेट कर आग्नेय सवनीय पशु का उपाकरण करता है)। इस से सवनीय यूप के परिव्याण में रशना को दर्शाता है। यदि वह रशना साधारण हो अर्थात् रशना के त्रिवृत्त्व आदि धर्म समान हों तो यह [त्रिवृत्त्व का] दर्शन उपपन्न होता है। यदि [त्रिवृत्त्वादि धर्म] अग्नीषोमीय रशना के ही होवें तो अप्राकृत सवनीय के परिव्याण से [त्रिवृत्त्व धर्मयुक्त रशना] निवर्तित होवे। सवनीय में भी जहां अप्राकृत परिव्याणान्तर है वहां त्रिवृत्त्व देखा जाता है। कैसे ? वह (=अध्वर्यु) आश्विन ग्रह**

---

१. 'सवनीयं' इति पदं काशीमुद्रिते नोपलभ्यते। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ १०१७, टि० ४।
३. द्र०—शत० ब्रा० ४।२।५।१२॥ अत्र 'स वै' पदविरहितः पाठ उपलभ्यते।

यदि न साधारणी रशना, वाससः परिव्याणं प्राप्नोति। रशना तु दर्शयति। तस्मात् साधारणी रशना, तत्साधारण्याच्च तद्धर्मा अपि साधारणाः। तदेतल्लिङ्गाद् रशना-साधारण्यम्। कोऽत्र खलु न्यायः इति? उच्यते—प्रकरणादग्नीषोमीयस्य, वाक्याद् यूपमात्रस्येति ॥३१॥ **रशनात्रिवृत्त्वादीनां पशुधर्मताधिकरणम् ॥१०॥**

—:०:—

[अंशवदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वाऽधिकरणम् ॥११॥]

दूराद् यच्छिष्यते ज्योतिष्टोमस्य, यथौपानुवाक्यकाण्डे अंशवदाभ्यौ। तत्र सन्देहः—किं ज्योतिष्टोमसमाम्नाता ग्रहधर्माः कर्त्तव्या उत नेति? किं प्राप्तम्?

आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैरसन्निधानात् ॥३२॥ (पू०)

का ग्रहण करके वहां से निकल कर [त्रिवृत् धर्मयुक्त रशना से] यूप को लपेटता है। वहां यदि रशना साधारण न होवे वासः (=वस्त्र) से परिव्याण प्राप्त होता है। [त्रिवृता = त्रिगुणत्व का अनुवाद] रशना को दर्शाता है। इसलिये रशना साधारण = समान है। उस रशना के साधारण होने से उस रशना के धर्म भी साधारण हैं। यह लिङ्ग से रशना का साधारणत्व है। यहां न्याय क्या है? कहते हैं—प्रकरण से [रशना] अग्नीषोमीय [यूप] की होवे, वाक्य से यूपमात्र की ॥३१॥

—:०:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम** का जो कर्म दूर कहा जाता है जैसे **औपानुवाक्य काण्ड में अंशु और अदाभ्य ग्रह पढ़े हैं।** उन में सन्देह है—क्या ज्योतिष्टोम में पढ़े गये ग्रह धर्म [**अंशु और अदाभ्य ग्रह में**] **करने चाहियें अथवा नहीं करने चाहियें? क्या प्राप्त होता है?**

विवरण—औपानुवाक्यकाण्डे तैत्तिरीय संहिता का तृतीयकाण्ड औपानुवाक्य काण्ड कहाता है। इसका अर्थ इस प्रकार जानना चाहिये—कर्म में कहा गया (=पठित) मन्त्र 'वाक' कहाता है। उसका व्याख्यानरूप ब्राह्मण अनुवाक कहाता है। वहां एक-एक मन्त्र का पाठ करके उसके समीप पठित ब्राह्मण उपानुवाक कहा जाता है। उस उपानुवाक का संबन्धी काण्ड औपानुवाक्य होता है। यहां **अव्ययीभावाच्च** (अष्टा० ४।३।५९) से शैषिक **तस्येदम्** अर्थ में ञ्य प्रत्यय, तथा उससे आदि वृद्धि होती है (द्र० तै० सं० का सायणभाष्य ३।१।१ के आरम्भ में)। इस काण्ड में जो कुछ कहा है। वह अनारभ्याधीत है। उसका उन-उन अनुवाकों में अन्वय उत्प्रेक्षणीय है। (वहीं, सायणभाष्य)। इसी कारण भाष्यकार से भिन्न व्याख्याकार इस अधिकरण में अनारभ्याधीत शब्द का व्यवहार करते हैं।

आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैरसन्निधानात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(आराच्छिष्टम्) दूर कहे गये ग्रह (इतरैः) अन्य ग्रहों के धर्मों से (असंयुक्तम्) संयुक्त नहीं होते हैं। (असन्निधानात्) पठित ग्रह धर्मों के समीप में न होने से।

न कर्त्तव्याः। असन्निधानात्। यथा पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति[1] इति। वचनान्मैत्रावरुणस्यैव श्रयणं, न सर्वेषाम्। एवमिदमपि धर्मजातं प्रकरणस्थानामेव, न सर्वेषामिति ॥३२॥

संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥ (उ०)

विशेष—शाबरभाष्य में मुद्रित सूत्र-पाठ में **सन्निधानात्** पाठ मिलता है, परन्तु भाष्य में 'न कर्त्तव्या असन्निधानात्' पाठ दृष्टिगत होने से भाष्यकार को **असन्निधानात्** पाठ ही अभिप्रेत है, यह जाना जाता है। सुबोधिनी वृत्ति में सूत्र का उक्त 'असन्निधानात्' पाठ तथा 'अरात् का समीप अर्थ मानकर अर्थ इस प्रकार किया है—

(आराच्छिष्टम्) प्रकरण पठित ग्रहों के समीप में कहा गया सम्मार्ग आदि धर्म (इतरैः) अनारभ्य पठित ग्रहों से (असंयुक्तम्) संबद्ध नहीं होता है (असन्निधानात्) दूर पठित होने से।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि वृत्तिकार ने **'आरात्'** शब्द का अर्थ 'समीप' माना है। भाष्यकार ने 'दूर' अर्थ किया है। 'आरात्' शब्द के दोनों ही अर्थ होते हैं। कुतुहलवृत्तिकार ने **'सन्निधानात्'** पाठ मानकर अर्थ किया है—

(आरात्) दूर विहित अर्थात् अनारभ्य विहित अंशु अदाभ्य दो ग्रहों को सम्मार्ग आदि ग्रह धर्मों से (असंयुक्तम्) असंयुक्त जानना चाहिये (इतरैः सन्निधानात्) अन्य प्रकरण पठित ग्रहों के सन्निधि में ग्रह धर्मों के पठित होने से।

'असन्निधानात्' पाठ मानकर वही अर्थ दर्शाया है जो भाष्यकार ने स्वीकार किया है।

व्याख्या—[**अंशु और अदाभ्य में सम्मार्गादि ग्रह-धर्म**] **नहीं करने चाहियें असन्निधान (=समीपता न) होने से। जैसे** पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति (**मैत्रावरुण ग्रहस्थ सोम को दूध के साथ मिलाता है) वचन से मैत्रावरुण ग्रहस्थ सोम का ही [पयः के साथ] श्रयण (= मिलाना) होता है, सब का नहीं होता है। इसी प्रकार यह सम्मार्गादि धर्म भी प्रकरणस्थ ग्रहों के ही होते हैं, सब के नहीं होते** ॥३२॥

संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'अप्रकरणस्थ अंशु और अदाभ्य ग्रहों के संमार्गादि ग्रह-धर्म नहीं होते हैं' का निवर्तक है। (संयुक्तम्) अप्रकरणस्थ अंशु और अदाभ्य ग्रह भी सम्मार्गादि ग्रह-धर्मों से संयुक्त होवें। अंशु और अदाभ्य ग्रहों के (तदर्थत्वात्) ज्योतिष्टोम के उपकार के लिये होने से (शेषस्य) ग्रह-धर्मों के (तन्निमित्तत्वात्) ज्योतिष्टोम-निमित्तक अर्थात् ज्योतिष्टोम के उपकारक होने से।

---

1. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यन्मैत्रावरुणं पयसा श्रीणाति। मै० सं० ४।५।८॥ तै० सं० ६।४।८।२॥ पयसा श्रीणात्येनम्। कात्या० श्रौत ९।६।९॥ आप० श्रौत १२।१४।१२ अपि द्रष्टव्यम्।

संयुक्तं वा धर्मैरेवञ्जातीयकं स्यादप्रकरणस्थमपि। कुतः? यतः प्रकरणाद् वाक्यं बलीयः। नन्वन्यत्र क्रियमाणा ज्योतिष्टोमस्य नोपकुर्युः। उच्यते। उपकरिष्यन्ति। अंश्वदाभ्ययोस्तदर्थत्वाज्ज्योतिष्टोमार्थत्वाच्छेषोऽयं ग्रहधर्म्मः। ग्रहनिमित्तो ज्योतिष्टोमस्योपकारकः। यावान् ग्रहो ज्योतिष्टोमस्योपकरोति, तस्य सर्वस्य भवितुमर्हति। तस्माद् अंश्वदाभ्ययोरपि ग्रहधर्माः कर्त्तव्या इति ॥३३॥

निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत ॥३४॥ (उ०)

यदुक्तम्—यथा **मैत्रावरुणं पयसा श्रीणाति** इति। तद् युक्तम्। श्रयणे वचनात् प्रकरणं बाधित्वा व्यवस्थानम्। इह तु विपरीतम्। तत्र सर्वेषु ग्रहेषु प्रकरणं, विशिष्टेषु वाक्यम्। इह तु सर्वेषु वाक्यं, विशिष्टेषु प्रकरणम्। तस्मादप्रकरणस्थस्यापि धर्मा इति ॥३४॥ **अंश्वदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वाऽधिकरणम् ॥११॥**

—:o:—

व्याख्या—**इस प्रकार अर्थात् ग्रहजातिवाला अप्रकरणस्थ भी ग्रह धर्मों से सयुक्त होवे। किस हेतु से?** जिस कारण प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है [अर्थात् 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' में ग्रह को उद्देश्य करके सम्मार्ग का विधान किया है=प्रकरण को बाधकर वाक्य ग्रहमात्र के सम्मार्ग का विधान करेगा]। (आक्षेप) **यहां (=अंशु और अदाभ्य में) क्रियमाण सम्मार्गादि ग्रह-धर्म ज्योतिष्टोम का उपकार नहीं करेंगे** [क्योंकि वे ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित नहीं हैं]। (समाधान) **ज्योतिष्टोम का उपकार करेंगे। अंशु और अदाभ्य ग्रहों के तदर्थ (=ज्योतिष्टोम के लिये) होने से यह ग्रहधर्म उस का शेष है। ग्रहनिमित्तक ज्योतिष्टोम का उपकारक होता है। जितने भी ग्रह ज्योतिष्टोम का उपकार करते हैं उन सब का** [सम्मार्गादि धर्म] **होना योग्य है] इस कारण अंशु और अदाभ्य में भी सम्मार्गादि ग्रह-धर्म करने चाहियें ॥३३॥**

निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत ॥३४॥

सूत्रार्थः—मैत्रावरुण ग्रहस्थ सोम में दूध मिलाना रूप कार्य (निर्देशात्) **पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति** निर्देश से (व्यवतिष्ठेत) मैत्रावरुण में ही व्यवस्थित होवे, अन्य ग्रहस्थ सोम का दूध से मिश्रण न होवे।

व्याख्या—**जो यह कहा है** 'जैसे मैत्रावरुणं पयसा श्रीणाति **से कहा गया दूध से मिश्रण मैत्रावरुण ग्रहस्थ सोम का ही होता है', वह युक्त है। श्रयण (=दूध से मिश्रण) में** [उक्त] **वचन से प्रकरण को बाधकर व्यवस्था होवे। यहां (=ग्रहधर्मों में) तो विपरीत है। [इसी विपरीतता को अगले वाक्यों से स्पष्ट करते है—]** वहां **(=श्रयण विषय में) सब ग्रहों में प्रकरण है [अर्थात् प्रकरण से सब ग्रहों में मिश्रण प्राप्त होता है], विशिष्टों (=मैत्रावरुण आदि में) वाक्य है। यहां (=सादनादि ग्रहधर्मों में) वाक्य है** [अर्थात् उपोप्तेऽन्ये ग्रहाः साद्यन्ते **आदि वाक्यों से सब ग्रहों में (=ग्रह मात्र में) सादनादि धर्मों का विधान प्राप्त होता है], विशिष्टों (=ऐन्द्रवायव आदि) में प्रकरण है। इस कारण अप्रकरणस्थ [अंशु और अदाभ्य] के भी सादनादि ग्रह-धर्म होते हैं ॥३४॥**

[**चित्रिण्यादीष्टकानामग्न्यङ्गताधिकरणम्** ॥१२॥]

अनारभ्याग्निमुच्यते **चित्रिणीरुपदधाति**[1] **वज्रिणीरुपदधाति**[2], **भूतेष्टका उपदधाति**[3] इति। सन्ति तु प्रकरणे इष्टकाधर्माः—**अखण्डामकृष्णलामिष्टकां कुर्य्याद्** इति। तथा **भस्मना इष्टकाः संयुज्याद्**[4] इति। तत्र सन्देहः—किमप्रकरणे समाम्नातानामिमे धर्माः कर्त्तव्याः, उत नेति? किं प्राप्तम्? न कर्त्तव्याः। कुतः? असन्निधानादिति प्राप्ते उच्यते—

विवरण—तत्र सर्वेषु ग्रहेषु—यह वाक्य तथा अगला **इह तु सर्वेषु ग्रहेषु** वाक्य दोनों में पूर्वोक्त से वैपरीत्य को दर्शाते हैं। **विशिष्टेषु वाक्यम्**—जैसे मैत्रावरुण में दूध से मिश्रण कहा गया है उसी प्रकार मन्थिग्रहस्थ सोम में कहा गया सत्तु का मिश्रण भी **सक्तुभिः श्रीणात्येनम्** (कात्या० श्रौत ६।६।१३) वाक्य से व्यवस्थित होता है।

—:०:—

व्याख्या—**अग्नि (=अग्निचयन कर्म) का आरम्भ न करके कहते** हैं—चित्रिणीरुपदधाति (=**चित्रिणी संज्ञक इष्टकाओं का उपधान=स्थापन कराता है** वज्रिणीरुपदधाति (=**वज्रिणी संज्ञक इष्टकाओं का उपधान करता है**) भूतेष्टका उपदधाति (=**भूतेष्टक संज्ञक इष्टकाओं का उपधान करता है**)। [**अग्नि=अग्निचयन के**] **प्रकरण में इष्टकाओं के धर्म कहे हैं**—अखण्डामकृष्णलामिष्टकां कुर्यात् (=**अखण्ड और अकृष्ण=काली न होवें, ऐसी इष्टका को बनावे**) तथा भस्मना इष्टकाः संयुज्यात् (=**भस्म से इष्टकाओं को को जोड़े**)। **यहां** सन्देह है—**क्या अप्रकरण में** पठितों (=**चित्रिणी आदि इष्टकाओं**) **के ये (=अखण्डत्वादि) धर्म करने चाहियें अथवा नहीं करने चाहियें? क्या प्राप्त होता है? नहीं करने चाहियें। किस** हेतु से? **सन्निधान (=समीपता) न होने से ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**—

विवारण—**अनारभ्याग्निमुच्यते**—अग्निचयन संज्ञक कर्म सोमयाग का अङ्गभूत है। **इष्टकाओं** (=ईटों) से सम्पादित स्थल विशेष चयन कहाता है। **अग्नि का आधार होने से** इष्टकाओं से रचित स्थण्डिल की अग्निचयन संज्ञा है। **पदेषु पदैकदेशान्** (द्र० **महाभाष्य अ०१, पा० १ आ०१**) न्याय से जैसे सत्यभामा को 'सत्या' **और** 'भामा' **रूप एकदेश से भी पुकारते है। तद्वत्** 'अग्निचयन' कर्म 'अग्नि' और 'चयन' एक देशों **से भी व्यवहृत होता है। श्रौत कर्मों में यह कर्म अत्यधिक** कठिन है। इस की पांच चितियां **हैं। पांच प्रकार से चयन करके यह कर्म सम्पन्न होता है। पञ्चचितिकः कार्यः** (मै० सं० ३।३।३)। **पांचों चितियों में विभिन्न प्रकार की विभिन्न नामवाली ११९७० ग्यारह** महस्र एक सौ सत्तर इष्टिकाएं होती हैं (द्र० कात्या० श्रौत विद्याधरीय टीका, भूमिका, पृष्ठ ६२)। इस याग का जो स्थण्डिल **बनाया जाता है वहां**

---

१. अनुपलब्धमूलम्॥
२. तै० सं० ५।७।३॥
३. तै० सं० ५।६।३॥
४. अनुपलब्धमूलम्।

अग्न्यङ्गमप्रकरणे तद्वत् ॥३५॥ (उ०)

अग्न्यङ्गमेवञ्जातीयकं तद्वदेव स्याद्, यद्वद् ग्रहाः। प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्। अमूषां चेष्टकानामग्न्यर्थत्वात् ॥३५॥ **चित्रिण्यादीष्टकानामग्न्यङ्गताधिकरणम् ॥१२॥**

—:०:—

पर फैलाए श्येन पक्षी के आकार का होता है। **चित्रिणीरुपदधाति**—यह वचन हमें उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिला। चित्र शब्द से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय, तत्पश्चात् स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर यह शब्द बनता है। **वज्रिणीरुपदधाति**—यहां भी वज्र शब्द से पूर्ववत् इनि और ङीप् होता है। वज्रिणी इष्टका के उपाधान=स्थापन करने का मन्त्र है—**इन्द्रस्य वज्रोऽसि** (तै० सं० ५।७।३) इत्यादि। इस मन्त्र में 'वज्र' शब्द है। इसी प्रसंग में अर्थवाद पढ़ा है। इसका भाव है—जैसे इन्द्र ने वज्र से असुरों का संहार किया इसी प्रकार जो वज्रिणी इष्टकाओं का उपाधान करता है, वह यजमान वज्र से शत्रुओं को नष्ट करता है। अतः वज्रिणी का अर्थ होगा वज्र शब्दवाली=वज्रशब्द से स्तुति की जाने वाली। **भूतेष्टिका उपदधाति**—भूतेष्टका का नाम की १२ इष्टिकाएं हैं। इनके उपधान के जो १२ मन्त्र हैं। उनमें ग्यारहवां मन्त्र है—**सुभूताय त्वा** [**उपदधामि**] (द्र० आप० श्रौत १७।२।६)। इस में विद्यमान भूत शब्द के आधार पर इन का नामकरण हुआ है। तै० सं० ५।६।३ में **भूतेष्टका उपधाति** विधिवाक्य का अर्थवाद पढ़ा है। उसका भाव है—प्राणियों को जहां-जहां मृत्यु प्राप्त होती है उन से यह भूतेष्टकोपधान रक्षा करता है। यजमान पूर्ण आयु तक जीता है।

चयन में प्रयुज्यमान विविध नामवाली इष्टकाओं में कुछ के नामकरण के नियम पाणिनि ने अष्टा० ४।४।१२५—१२६—१२७ सूत्रों में दिये हैं।

अग्न्यङ्गमप्रकरणे तद्वत् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(**अप्रकरणे**) अप्रकरण में पठित चित्रिणी आदि इष्टिकायें भी (अग्न्यङ्गम्) अग्निचयन की अङ्गभूत हैं। अतः ये भी ग्रहधर्मवत् इष्टकाओं के धर्मों से संयुक्त होती हैं।

व्याख्या—**इस प्रकार की** [**अप्रकरणाधीत इष्टकाएं**] **अग्नि का अङ्ग उसी प्रकार होवें जिस प्रकार** [**अप्रकरणाधीत अंशु अदाभ्य**] **ग्रह ज्योतिष्टोम के अङ्ग हैं। प्रकरण से वाक्य बलवान् है। इन इष्टकाओं के अग्न्यर्थ होने से।**

विशेष—पूर्वन्याय से ही गतार्थ (=अप्रकरणाधीत इष्टकाओं के इष्टका-धर्म से युक्त हो जाने पर इस अधिकरण का यह प्रयोजन है कि किसी शाखान्तर में ज्योतिष्टोम के प्रकरण में अदाभ्य ग्रह का पाठ है—**यस्यैवं विदुषोऽदाभ्यो गृह्यते**। यहां ऐसा संकेत किसी शाखा में नहीं है। यह पूर्व अधिकरण से इस अधिकरण में विशेष है। यह सुबोधिनीकार का मत है। तै० सं० के चयन प्रकरण में वज्रिणी और भूतेष्टका का निर्देश होने से सुबोधिनीकार का कथन चिन्त्य है ॥३५॥

—:०:—

[मानोपावहरणादीनां सोममात्रधर्मताऽधिकरणम् ॥१३॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत् स यदि सोमं बिभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्[1] इति। ज्योतिष्टोमे सन्ति सोमधर्माः—मानम् उपावहरणं क्रयोऽभिषव इत्येवमादयः। तत्र सन्देहः—किं समानविधाना इमे धर्माः सोमस्य फलचमसस्य च उत सोमधर्माः? फलचमसस्य तु तद्विकारत्वादिति। गुणकामानां प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वा प्रयोजनमधिकरणचिन्तायाः॥

किं प्राप्तम्? समानविधानाः प्रकरणाविभागादिति प्राप्ते उच्यते—

नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ॥३६॥ (उ०)

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में सुना जाता है**—स यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत्। स यदि सोम बिभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य, तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम् (**=वह यदि क्षत्रिय वा वैश्य को यजन कराये। वह=क्षत्रिय वा वैश्य सोम का भक्षण करना चाहे तो न्यग्रोधस्तिभियों=बड़ की कलियों वा फलों को लाकर उन्हें पीस कर दही में मिलाकर उसे=क्षत्रिय वा वैश्य को यह भक्ष देवे, सोम न देवे। ज्योतिष्टोम में सोम के धर्म हैं—मान (=परिमाण), उपावहरण (=अभिषवस्थान के समीप लाना), क्रय (खरीदना) अभिषव (कूटकर रस निकालना) इत्यादि। उन में सन्देह है क्या ये धर्म सोम और फलचमस के समान हैं अथवा सोम के धर्म हैं, फलचमस के तो उस (=सोम) का विकार होने से प्राप्त होते हैं? फलरूप गुण की कामना से सोमयाग करनेवाले क्षत्रिय वा वैश्य यजमान की न्यग्रोधफल से प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति इस अधिकरण के विचार का फल है।**

क्या प्राप्त होता है? [सोम और फलचमस के] प्रकरण का विभाग न होने से [मान आदि धर्म] समान विधान हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—मानम्—प्रतिसवन सोम के अभिषव के लिये कहा गया सोम का परिमाण। यथा **दश मुष्टीर्मिमीते। पञ्चकृत्वो यजुषामिमीते पञ्चकृत्वस्तूष्णीम्।** (आप० श्रौत १२।६।५)। द्र० पूर्व पृष्ठ ८४३ भाष्य तथा टिप्पणी। **उपावहरणम्** हविर्धान शकट में स्थापित सोम का अभिषव के लिये पृथक् करके ग्रहण कर ग्रावों पर रखना (द्र० मीमांसाकोष पृष्ठ १२५६)। **क्रयः** क्रय के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ आचार्य न्यग्रोधस्तिभियों का क्रय नहीं मानते हैं' कुछ आचार्य मानते हैं। **गुणकामानां प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वा**—यदि फलचमस के भी मान आदि **धर्म** सोम के समान ही होवें तो कामना पूर्वक सोमयाग करनेवाले क्षत्रिय वा वैश्य की कर्म में प्रवृत्ति होगी। और यदि फलचमस में मानादि धर्म सोम के विकार होवें तो जैसे काम्य दर्शपौर्णमादि व्रीहि के अभाव में उसके प्रतिनिधि नीवार से नहीं होते हैं, उसी प्रकार काम्य सोमयाग नैमित्तिक फलचमस से नहीं होगा।

नैमित्तिकमतुल्यत्वाद् असमानविधानं स्यात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(नैमित्तिकम्) निमित्त से प्राप्त होनेवाली स्तिभियां (अतुल्यत्वात्) तुल्य=बराबर न होने से (असमानविधानम्) धर्मों का विधान समान न (स्यात्) होवे।

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ६६६, टि० १॥

नैमित्तिकमेवञ्जातीयकमसमानविधानं स्यात्। कुतः? अतुल्यत्वात्। अतुल्यः सोमेन फलचमसः। सोमो नित्यवदाम्नातः, फलचमसो नैमित्तिकः। किमतो यद्येवं? धर्म्मा अपि नित्यवदाम्नाताः न शक्या अनित्यवत् कर्त्तुम्। यदि साधारणाः तत्र अनारभ्योऽर्थो विधीयेत। अपि च नैमित्तिकः फलचमसः। स सोमधर्म्मान् गृह्णाति। तत्र धर्म्माः साधारणाः सन्तो द्विरुक्ता इत्युच्येरन्। तस्माद् असमानविधानाः ॥३६॥

भानोपावहरणादीनां सोममात्रधर्मताऽधिकरणम् ॥१३॥

—:०:—

व्याख्या—इस प्रकार का नैमित्तिक असमान विधान होवे। **किस हेतु से? अतुल्य** (=असमान) होने से। सोम से फलचमस तुल्य नहीं है। **सोम का पाठ नित्यवत् है। फल** चमस का नैमित्तक पाठ है। इस से क्या यदि ऐसा है तो? **धर्म भी नित्यवत् पढ़े हुए अनित्यवत्** **नहीं किये जा सकते हैं।** यदि मानादि धर्म साधारण होवें तो **अनारभ्य अर्थ का विधान होवे।** **और भी,** फलचमस नैमित्तिक है। वह सोम के धर्मों को ग्रहण करता है। उस **अवस्था में** **मानादि धर्म साधारण होते हुए द्विरुक्त कहे जावें। इसलिये मानादि धर्म असमान विधान हैं।**

विवरण—अतुल्यः सोमेन फलचमसः—यहां फलचमस से उसकी प्रकृति स्तिभियों का तात्पर्य है। **तत्र अनारभ्योऽर्थो विधीयेत**—यदि मानादि धर्म सोम और न्यग्रोध-स्तिभियों के समान होवें तो इनका अनारभ्य विधान किया जाये। अनारभ्य विधान होने पर मानादि धर्म फल-चमस में भी प्राप्त होंगे। भाष्यकार ने यह कथन अनारभ्याधीत विधियों के सर्वार्थ पक्ष को मान-कर कहा है ऐसा जानना चाहिये। सर्वार्थपक्ष पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त में अनारभ्य विधियां भी प्रकृति में ही निविष्ट होती हैं। द्र० अनारभ्याधीतानां प्रकृतिगामिताधिकरणम् ३।६। अधि० १ सूत्र १-८। **स सोमधर्मान् गृह्णाति**—इसका तात्पर्य यह है कि जो नैमित्तिकविधि है, वह नित्यविधि की की विकृति होती है। **धर्माः⋯—⋯द्विरुक्ताः**—इस का भाव यह है कि यदि मानादि धर्मों को सोम और न्यग्रोध-स्तिभियों के समान मानें तो द्विरुक्त होंगे। साधारणरूप से विधान होने से भी स्तिभियों में प्राप्त होंगे और सोम का विकार होने से **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** से भी प्राप्त होंगे।

विशेष—सत्याषाढ श्रौतसूत्र के व्याख्याता गोपीनाथ भट्ट ने इस सूत्र पर कुछ विशेष विचार प्रस्तुत किया है। उसका हम सारांश यहां देते हैं—बाह्वृच (ऋग्वेदीय ब्राह्मण श्रौत) में न्यग्रोध-स्तिभियों में किन्हीं सोमधर्मों का प्रत्यक्ष पाठ होने से तथा कलश ग्राव चर्म दशापवित्र आदि का कथन होने से स्तिभियों को सोमधर्मों की प्राप्ति होती है। इस से क्रयकाल में क्रयधर्म भी न्यग्रोध-स्तिभियों में होता है। आप्यायन (=जल मिलाकर रस को बढ़ाना) भी दृष्टार्थ होने से होता है। प्रणयन उपावहरण के भी समीप में अवस्थान अभिषवानुकूलत्वरूप दृष्टार्थ कर्म होने से होते हैं।⋯⋯ सोमलिङ्गवाले मन्त्रों का न्यग्रोध-स्तिभियों के रस में नित्य का विकार होने से प्रकृति में भी ऊह होता है। बाह्वृच्च में **'यदत्र शिष्टम्'** इत्यादि से सोमलिङ्ग वाले मन्त्रों

[प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥१४॥]

अस्ति प्रतिनिधिः श्रुते द्रव्येऽपचरति। यथा व्रीहिष्वपचरत्सु नीवाराः। तत्र सन्देहः—किं नीवाराः समानविधानाः, उत नेति? किं प्राप्तम्?

प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥३७॥ (पू०)

प्रतिनिधिश्च तद्वत्। यथा नैमित्तिकं नित्येन असमानविधानम् एवं प्रतिनिधिरतुल्यत्वात्। का अतुल्यता? व्रीहीणां विहिताः, न नीवाराणाम्। इयम् अतुल्यता। व्रीहीणां विहिताः, नीवाराणाम् अर्थापत्त्या भवन्ति ॥३७॥

से भक्षण का विधान होने से नैमित्तिकों का ऊह नहीं होता है। **परोक्षमिव एष सोमो राजा** (=यह न्यग्रोध परोक्षरूप से सोमराजा है) इस वचन में सोमशब्द से वटरस के स्तवन से भी ऊह नहीं होता है। द्र० सत्या० श्रौत ८।७, पृष्ठ ८८३ ॥३६॥

—:०:—

व्याख्या—**श्रुत (=विहित) द्रव्य के अपचार (=नष्ट) हो जाने पर प्रतिनिधि का विधान है—जैसे व्रीहि के नष्ट हो जाने पर नीवार(='तिन्नी' नाम से प्रसिद्ध)। इस(=नीवार) में सन्देह है—क्या नीवार समानविधानवाले हैं, अथवा समानविधानवाले नहीं हैं? क्या प्राप्त होता है—**

विवरण—व्रीहि के निर्वाप से लेकर आहुति देने से पूर्व तक यदि व्रीहि वा उस से बना पुरोडाश नष्ट हो जावे तो पुनः व्रीहि द्रव्य का ग्रहण न करके नीवार का निर्वाप करके पुरोडाशादि की निर्वृत्ति की जाती है। प्रतिनिधि द्रव्य का विधान भी शास्त्रकारों ने किया है। यदि किसी के प्रतिनिधि का विधान नहीं किया गया है तो वहां पर प्रतिनिधि की कल्पना गुणादि के साम्य से होती है। शास्त्रोक्त प्रतिनिधि द्रव्य भी प्रायः गुणसाम्य पर ही आधृत हैं। **व्रीहिषु अपचरत्सु नीवाराः**—नीवार को पूर्वदेश में 'तिन्नी' कहते हैं। व्रत आदि में इसका उपयोग प्रायः किया जाता है। प्रतिनिधि द्रव्य की कल्पना विहित द्रव्य के अपचार में ही नहीं होती है अपितु विहित द्रव्य के कथंचित् अभाव वा अनुपलब्धि होने पर भी कर्म के पूर्त्यर्थ की जाती है। यथा—**यत्पयो न स्यात् केन जुहुया इति? व्रीहियवाभ्याम्** (शत० ११।३।१।१-४)।

प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(प्रतिनिधिः) प्रतिनिधि द्रव्य (च) भी (तद्वत्) जैसे नैमित्तिक समानविधान नहीं हैं, उसी प्रकार प्रतिनिधि द्रव्य भी समान विधान नहीं हैं।

व्याख्या—**प्रतिनिधि भी उसी के समान होवे। जैसे नैमित्तिक द्रव्य नित्य द्रव्य से असमान विधान है इसी प्रकार प्रतिनिधि होता है अतुल्य होने से। अतुल्यता क्या है। व्रीहियों के [निर्वाप आदि धर्म] विहित हैं, नीवार के अर्थापत्ति से होते हैं ॥३७॥**

न[1] तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् ॥३८॥ (उ०)

नैतदस्ति असमानविधानः प्रतिनिधिरिति। तद्वत् स्याद्, यद्वत् श्रुतः। न प्रकृति-विकारभावः। कुतः? व्रीहित्वं हि व्रीहिधर्म्माणां व्रीहिव्यक्तौ निमित्तम्, न च व्रीहित्वस्य स्थाने नीवारत्वं भवतीति श्रूयते। तस्मान्न प्रकृतिविकारभावः। कथं तर्हि नीवारेषु धर्म्मा भवन्तीति? उच्यते। या व्रीहित्वेन परिच्छिन्ना व्रीहिव्यक्तयः, नीवारेषु ताः सन्ति। तासामर्थेन ते धर्म्माः क्रियन्ते। तासां च व्यक्तीनामन्यासां च व्रीहिगतानां तुल्य एष विधिः। का तुल्यता? उभयेऽपि व्रीहित्वलक्षिता इति। तस्मात् समानविधाना इति ॥३८॥

न तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् ॥३८॥

सूत्रार्थ.—(न) प्रतिनिधि असमान विधान नहीं हैं (तद्वत्) उसी के समान होवे जिस का साक्षात् विधान है (प्रयोजनैकत्वात्) मुख्य द्रव्य और प्रतिनिधि द्रव्य का समान प्रयोजन होने से।

व्याख्या—यह नहीं है कि प्रतिनिधि असमान विधान है। उसके समान है जैसा श्रुत द्रव्य है। इनमें प्रकृति विकृति भाव नहीं है। किस हेतु से? व्रीहि व्यक्ति में व्रीहि धर्मों का निमित्त व्रीहित्व है। व्रीहित्व जाति के स्थान पर नीवारत्व जाति होती है ऐसा नहीं सुना जाता है। इस कारण इनमें प्रकृतिविकृतिभाव नहीं है। (आक्षेप) तो नीवारों में [निर्वापादि] धर्म कैसे होते हैं? (समाधान) जो व्रीहित्व जाति से परिच्छिन्न व्रीहि व्यक्ति हैं, वह नीवारों में भी है [अर्थात् नीवार भी व्रीहित्व जाति वाले हैं, व्रीहि के ही भेद हैं] उन के प्रयोजन से वे धर्म नीवार में किये जाते हैं। उन व्रीहि व्यक्तियों और अन्य व्रीहिगतों (=व्रीहि के भेदों) की यह तुल्य विधि है। क्या तुल्यता है? दोनों ही व्रीहित्व जाति से लक्षित हैं। अतः नीवार समानविधान वाले हैं।

विवरण—**व्रीहित्वं हि व्रीहिधर्माणाम्**—इसका भाव यह है कि व्रीहि व्यक्ति में जो व्रीहि धर्मों का उपदेश है, उस का निमित्त व्रीहित्व जाति है और वह व्रीहित्व जाति नीवारों में भी है।

इस में यह विचारणीय है कि प्रतिनिधि द्रव्य क्या समान जाति वाले ही होते हैं अथवा भिन्न जातिवाले भी। शतपथ ११।३।१।१—४ में जनक ने याज्ञवल्क्य से अग्निहोत्र के विषय में 'यदि पयः न होवे तो किस से अग्निहोत्र करे' प्रश्न पूछा है हैं और उनका उत्तर याज्ञवल्क्य ने जो दिया है। उसका सार है—'पयः के अभाव में व्रीहि यव से, व्रीहि यव के अभाव में अन्य ओषधियों (अन्नों) से, उन के अभाव में जंगली अन्नों से, उनके अभाव में वनस्पतियों से, उनके अभाव में जल, से जल के अभाव में सत्य में श्रद्धा का होम करे। इस प्रकरण से स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व के अभाव में कहे गये उत्तर उत्तर प्रतिनिधि द्रव्यों में जातिसामान्य नहीं है। फिर भी इनका

---

१. काशीमुद्रिते 'न' पदं न दृश्यते, दृश्यते च।

अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥३९॥ (उ०)

इतश्च न प्रतिनिधेः श्रुतेन सह प्रकृतिविकारभावः। कुतः? अर्थलक्षणत्वात्। अर्थाद्धि प्रतिनिधिः क्रियते। न चाऽर्थेनैतदवगन्तुं शक्यते व्रीहित्वस्य स्थाने नीवारत्वं भवतीति। तस्मान्न प्रतिनिधेः श्रुतेन सह प्रकृतिविकारभावो भवतीति ॥३९॥ प्रतिनिधि-त्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥१४॥

—:o:—

[श्रुतेऽपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥१५॥]

अथ यः श्रुतः प्रतिनिधिः। तत्र किं सामानविध्यमुत नेति? यथा यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयाद्[1] इति। असामानविध्यमिति ब्रूमः। अश्रुताद्धयं तद्विपरीतम्। एवं प्राप्ते उच्यते—

विधान शास्त्रकार करते हैं। सूत्रकार ने प्रयोजनैकत्व=यागसिद्धिरूप प्रयोजन दिया है वह युक्त है। शतपथोक्त प्रकरण में भी अग्निहोत्रसिद्धि प्रयोजन सामान्य है। सिद्धान्ततः यागसिद्धि प्रयोजन होने पर भी प्रतिनिधि की कल्पना का मुख्य आधार गुणादि सामान्य ही माना जाता है। कात्या० श्रौत १।४।२ में कहा है—**नियते सामान्यतः प्रतिनिधिः स्यात्**। अर्थात् नित्य कर्म में विहित द्रव्य के अभाव में सामान्य धर्म के आधार पर प्रतिनिधि होवे। यहां भी भाष्यकार के समान जातिसामान्य को आधार नहीं माना है। इसीलिये विहित द्रव्य के अभाव में प्रतिनिधि द्रव्य से काम्य कर्म नहीं होता है (कात्या० श्रौत० १।४।१)। अतः हमारे विचार में भाष्यकार का व्रीहित्व जाति के आधार पर नीवार में प्रति-निधित्व मानना युक्त नहीं है ॥३८॥

अशास्त्र लक्षणत्वाच्च ॥३९॥

सूत्रार्थः—प्रतिनिधि के (अशास्त्रलक्षणत्वात्) शास्त्रलक्षणत्व=शास्त्रविहित्व के न होने से (च) भी श्रुत द्रव्य और प्रतिनिधि में प्रकृतिविकार भाव नहीं है।

व्याख्या - **इस कारण से भी प्रतिनिधि द्रव्य का श्रुत द्रव्य के साथ प्रकृति विकार भाव नहीं है। किस से? अर्थलक्षण होने से। अर्थ (= याग की सिद्धि रूप प्रयोजन) से प्रतिनिधि किया जाता है। प्रयोजन से यह नहीं जाना जा सकता है कि व्रीहित्व के स्थान में नीवारत्व होता है। इस कारण प्रतिनिधि का श्रुत द्रव्य के साथ प्रकृति विकारभाव नहीं होता है ॥३९॥**

—:o:—

व्याख्या— **जो प्रतिनिधि श्रुत है उस में समानविधित्व होता है अथवा समानविधित्व नहीं होता है। यथा** यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयात् (**=यदि सोम को प्राप्त न करे तो पूतीक का अभिषव करे)। असमानविधित्व होता है ऐसा कहते हैं। अश्रुत प्रतिनिधि से यह विपरीत है [अर्थात् पूर्व अधिकरण उदाहरण नीवारादि में प्रतिनिधि श्रुत नहीं है। परन्तु पूतीका में प्रतिनिधित्व साक्षात श्रुत है]। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० लाण्डय ब्रा० ९।५।३; काठक सं० ३४.३।

नियमार्था गुणश्रुतिः ॥४०॥

नियमार्था गुणश्रुतिः। अत्राप्यर्थलक्षण एव प्रतिनिधिः। सोमे अविद्यमाने सोमसदृशं द्रव्यं प्राप्तम्, तत्र सुसदृशे द्रव्ये प्राप्ते ईषत् सदृशं नियम्यते। अन्यस्मिन् प्रतिनिधातव्येऽन्यत् प्रतिनिधीयते श्रुतस्य स्थाने। न यागद्रव्यत्वेन ॥४०॥ **श्रुतेष्वपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाऽधिकरणम् ॥१५॥**

—:०:—

नियमार्था गुणश्रुतिः ॥४०॥

सूत्रार्थः—[गुणादि के सादृश्य से सोम के अभाव में तत्सदृश पूत्तिका न्यग्रोधस्तिभी आदि अनेक प्रतिनिधि प्राप्त होने पर] (गुणश्रुतिः) प्रतिनिधित्वरूप गुण की श्रुति—**पूतीकानभिषुणुयात्** (नियमार्था) नियम के लिये है। सोम के अभाव में पूतीक का ही अभिषव करे, अन्य का न करे।

व्याख्या—**नियम के लिये गुणश्रुति (=प्रतिनिधि की श्रुति) है। यहां भी अर्थलक्षण ही प्रतिनिधि है। सोम के अविद्यमान होने पर सोमसदृश द्रव्य प्राप्त होता है। वहां अत्यन्त सदृश द्रव्य की प्राप्ति होने पर किञ्चित् सदृश द्रव्य पूतिका का नियमन किया जाता है। श्रुत सोम द्रव्य के स्थान में अन्य के प्रतिनिधान करने योग्य होने पर अन्य, का प्रतिनिधान किया जाता है, यागद्रव्य के रूप से प्रतिनिधान नहीं किया जाता है।**

विवरण—सुसदृशे द्रव्ये प्राप्ते—जिस में पर्व और क्षीर (=दूध) दोनों हों उसके प्रतिनिधि रूप से प्राप्त होने पर **ईषत् सदृशं नियम्यते**—पूतिका में पर्व हैं परन्तु क्षीर नहीं है। यह किञ्चित् सादृश्य है। **न यागद्रव्यत्वेन**—यह अंश विचारणीय है। प्रतिनिधि के विषय में यह नियम है कि नित्यकर्म में तो श्रुत द्रव्य की अनुपलब्धि में सदृश द्रव्य से नित्यकर्म किया जा सकता है। परन्तु काम्य कर्म प्रतिनिधि द्रव्य से नहीं किया जा सकता है। काम्यकर्म में तो श्रुत द्रव्य से कर्म आरम्भ करने पर कथंचित् द्रव्य के नाश हो जाने पर प्रारब्ध कर्म की परिसमाप्ति के लिये प्रतिनिधि स्वीकार किया जाता है। (द्र० कात्या० श्रौत १।४।१—४)। यदि याग द्रव्य के रूप में पूत्तिका का श्रवण न होवे तो नित्यकर्म रूप जो सोमयाग है, उसका आरम्भ तो सोम के अभाव में पूतिका से किया जा सकेगा, परन्तु काम्य सोमयाग का आरम्भ न हो सकेगा। सब व्याख्याकारों का मत यही है कि काम्य सोमयाग पूत्तिका से नहीं हो सकते। परन्तु **यदि सोमं न विन्देत् पूत्तिकानभिषुणुयात्** वचन की तुलना **यदि पयो न स्यात् केन जुहुया इति व्रीहियवाभ्याम्** (शत० ११।३।१।३) से नहीं की जा सकती है। क्योंकि पयः सब कालों में प्राप्त हो सकता है। परन्तु सोम द्रव्य तो चिरकाल से दुर्लभ हो चुका था। अत एव **सोमं न विन्देत्** श्रुति सोम के के अभाव में नित्य नैमित्तिक उभयविध सोम यागों का उच्छेद न हो जावे, इस लिये तत्कालीन ब्राह्मण प्रवक्ताओं ने सोम के अभाव में पूतिका का विधान किया है। अतः यह गुण साम्य से

[दीक्षणीयादिधर्माणामग्निष्टोमाङ्गताधिकरणम् ।।१६।।

अस्ति ज्योतिष्टोमः। तत्र संस्थाः समाम्नाताः—अग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, अतिरात्र इति। तत्र दीक्षणीयादयो धर्म्माः। तेषु सन्देहः— किं सर्वसंस्थं ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य दीक्षणीयादयो धर्म्मा उक्ताः, उताग्निष्टोमसंस्थामभिप्रेत्येति ? किं प्राप्तम् ?

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ॥ ४१ ॥

सर्वसंस्थासु समानं विधानम्। कुतः ? प्रकरणाविशेषात्। नास्ति प्रकरणविशेषो येन ज्ञायेत अग्निष्टोमसंस्थं प्रकृत्य इति। तस्मात् समानविधानाः संस्था इति ।।४१।।

अनेक द्रव्यों के प्राप्त होने पर केवल नियमार्थ श्रुति वचन नहीं है। क्योंकि काठक संहित ३४।३ में पूतिका के अभाव में आर्जुनतृणों का भी विधान किया है। इसलिये सोम के स्थान में पूतिका का साक्षात् विधान करने के लिये श्रुति है। अतः सोम के अभाव में पूत्तिका से काम्य सोमयाग भी किये जा सकते हैं। यही मुख्य अन्तर पूर्व अधिकरण और इस अधिकरण में है ।।४०।।

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम याग है। उसमें संस्थाएं पढी गई हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र। वहां दीक्षणीय आदि धर्म पढे हैं। उनमें सन्देह है—क्या सब संस्थाओं वाले ज्योतिष्टोम को प्रकृत करके दीक्षणीयादि धर्म कहे हैं अथवा अग्निष्टोम संस्था को अभिप्रेत करके ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—संस्थाः समाम्नाताः— संपूर्वक स्था धातु का प्रयोग समाप्ति अर्थ में होता है। यथा **सन्तिष्ठते अग्निष्टोमोऽग्निष्टोमः** (आप० श्रौत १३।२५।१०)। अग्निष्टोम आदि संस्थाओं का नामकरण जिन स्तोमों= स्तोत्रों से जिस संस्था की समाप्ति होती है,उन के आधार पर प्रवृत्त हुआ है। अग्निष्टोम संस्था में अग्निदेवताक स्तोम अन्त में होने से अग्निष्टोम कहाता है। इसी प्रकार उक्थ्य षोडशी आदि भी स्तोम विशेष हैं और उन-उन संस्थाओं में वह वह स्तोम अन्त में होता है। ज्योतिष्टोम यह सब संस्थाओं वाले सोमययाग का सामान्य नाम है। **वे संस्थाएं** सात हैं। उनकी क्रमःश अग्निष्टोम उक्थ्य षोडशी अतिरात्र अत्यग्निष्टोम वाजपेय और अप्तोर्याम संज्ञाएं हैं। (गोपथ ब्रा० पू० १।४।२३)। इनमें भाष्यकारोक्त चार मुख्य हैं। **दीक्षणीयादयो धर्माः—** दीक्षणीयेष्टि, दीक्षा, प्रायणीयेष्टि आदि।

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ।।४१।।

सूत्रार्थ— (संस्थाः) अग्निष्टोम आदि संस्थाएं (तु) तो (समानविधानाः) समान विधान वाली हैं (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण के विशेष न होने से।

व्याख्या— दीक्षणीयादि धर्मों का संस्थाओं में समानविधान है। किस हेतु से ? प्रकरण के समान होने से। प्रकरण में कोई विशेष नहीं है जिससे जाना जाये कि अग्निष्टोम संस्था को आरम्भ करके दीक्षणीयादि धर्म कहे हैं। इसलिये सब संस्थाएं समानविधानवाली हैं।

व्यपदेशश्च तुल्यवद् ॥ ४२ ॥ (पू०)

तुल्य इव प्रकरणे व्यपदेशो भवति—**यदि अग्निष्टोमो जुहोति, यदि उक्थ्यः परिधिमनक्ति, यदि अतिरात्रः एतदेव यजुर्जपन् हविर्धानं प्रतिपद्येत**[1] इति सर्वावस्थस्य विशेषवचनाद् अवगम्यते। यदपि सामान्यं, तदपि सर्वावस्थस्यैवेति। यदि हि न समानं विधानम्, अग्निष्टोमसंस्थस्यैव स्यात्। नेह अग्निष्टोमं सङ्कीर्त्तयेद्। असङ्कीर्त्यमानेऽपि धर्म्मसम्बन्धो भवतीति। सर्वावस्थस्य कीर्त्तनात् सर्वावस्थप्रकरणमित्यवगच्छामः।

व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(व्यपदेशः) संस्थाओं का व्यपदेश=कथन (च) भी (तुल्यवत्) तुल्य के समान है।

व्याख्या—व्यपदेश भी तुल्य की तरह होता है—यदि अग्निष्टोमो जुहोति यदि उक्थ्यः परिधिमनक्ति, यदि अतिरात्र एतदेव यजुर्जपन् हविर्धानं प्रतिपद्येत=(**यदि अग्निष्टोम है तो होम करता है यदि वा उक्थ्य है तो उसके अवशिष्ट घृत से परिधि को चुपड़ता है, यदि अतिरात्र है तो इसी (=यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्) यजु को जपता हुआ हविर्धान को प्राप्त होता है। इस विशेष वचन से सब अवस्था=संस्थावाले ज्योतिष्टोम का धर्म जाना जाता है। और जो भी सामान्य विधान है। वह भी सर्वावस्थ ज्योतिष्टोम का ही है। यदि समान विधान न होवें तो ज्योतिष्टोम का यह धर्म होवे, उस अवस्था में यहां अग्निष्टोम का कथन न करे। विना संकीर्तन किये भी धर्म का संबन्ध होता है। सर्वावस्थ ज्योतिष्टोम के संकीर्तन से सर्वावस्थ ज्योतिष्टोम के धर्म हैं, ऐसा हम जानते हैं।**

विवरण—यदि अग्निष्टोमो जुहोति—यदि अग्निष्टोम संस्था होवे तो प्रचरणीस्थ होमशेष घृत से **यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्** मन्त्र से होम करता है। यह होम तैत्तिरीय सम्प्रदाय में **ऋतुकरण** कहाता है (द्र० आप० श्रौत १२।६।५ तथा टीका)। प्रचरणी विकङ्कत काष्ठ निर्मित जुहूसदृश पात्र होता है। **यदि उक्थ्यः परिधिमनक्ति**—उक्थ्य संस्था होवे तो प्रचरणीस्थ होमशेष घृत से परिधिको चुपड़ता है। तै० सं० ६।४।३ में **परिधौ निमार्ष्टि** पाठ है। सायण ने तै० सं० १।३।१३ में उक्त वचन की व्याख्या में 'परिधि में आज्य का लेप करता है' अर्थ किया है। कात्या० श्रौत ९।३।१४।में उक्थ्य संस्था में 'यमग्ने' मन्त्र से प्रथम परिधि का स्पर्श कहा है। **नेहाग्निष्टोम संकीर्तयेत्**—इस का भाव यह है कि यदि दीक्षणीयेष्टि आदि अग्निष्टोम के धर्म होवें तो यहां भी अग्निष्टोम शब्द पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। **जुहोति**='प्रचरणी शेष से होम करता है' इतना कहने से ही अग्निष्टोम के साथ इस धर्म का सम्बन्ध हो जायेगा। अग्निष्टोम पद का पाठ अनर्थक न होवे इस से यह ज्ञापन करता है कि सर्वावस्थ ज्योतिष्टोम के धर्म हैं।

---

1. अनुपलब्धमूलम्। तुलनीयम्—यद्यग्निष्टोमो जुहोति, यद्युक्थ्यः परिधौ निमार्ष्टि, यद्यतिरात्रो यजुर्वदन् प्रपद्यते। तै० सं० ६।४।३॥ अन्यः पाठः आपस्तम्बश्रौते १२।६।८ तमे सूत्रे द्रष्टव्यः।

अपि च श्रूयते — **'आग्नेयमजमग्निष्टोमे आलभेत, ऐन्द्राग्नं द्वितीयमुक्थ्ये, ऐन्द्रं वृष्णिं तृतीयं षोडशिनि'** इति। द्वितीयस्य तृतीयस्य च दर्शनं सामानविध्ये घटते। उक्थ्ये हि द्वे निमित्ते स्तः, अग्निष्टोमस्तोत्रमुक्थ्यस्तोत्रञ्चेति। तत्र द्वौ नैमित्तिकौ आग्नेयः पशुः, ऐन्द्राग्नश्चेति। तेन द्वितीयदर्शनं तत्र युज्यते। एवं षोडशिनि अतिरात्रे च। प्रकृति-विकारभावे तु प्रत्यक्षश्रुतैरैन्द्राग्नादिभिरतिदेशेन प्राप्त आग्नेयो बाध्येत। तत्र द्वितीया-दिदर्शनं नोपपद्येत। भवति च। तस्मात् सर्वावस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य दीक्षणीयादयो धर्म्मा इति ॥४२॥

विकारास्तु कामसंयोगे सति[2] नित्यस्य समत्वात् ॥४३॥ (उ०)

व्याख्या—और भी सुना जाता है—आग्नेयमजमग्निष्टोम आलभेत, ऐन्द्राग्नं द्वितीयमुक्थ्ये, ऐन्द्रं वृष्णिं, तृतीयं षोडशिनि ('=**अग्नि देवतावाले अज का अग्निष्टोम में आलभन करे**, इन्द्राग्नि देवतावाले द्वितीय का उक्थ्य में, इन्द्र देवतावाले तृतीय **मेढे का षोडशी में)इसमें कहा गया** द्वितीय तृतीय शब्द का दर्शन समान विधि में ही घटता है। **उक्थ्य में दो निमित्त हैं—अग्निष्टोम स्तोत्र** और उक्थ्य स्तोत्र। वहां नैमित्तिक पशु भी दो हैं-**आग्नेय पशु और ऐन्द्राग्न** पशु। **इस कारण** वहाँ द्वितीय पद का दर्शन युक्त होता है। इसी प्रकार **षोडशी और अतिरात्र** में। **प्रकृतिविकारभाव** में (=अग्निष्टोम को प्रकृति और उक्थ्यादि को विकृति मानने पर) तो **प्रत्यक्ष श्रुत ऐन्द्राग्न आदि पशुओं से आतिदेशिक** (=अतिदेश से प्राप्त) **आग्नेय पशु बाधा जावे। उस अवस्था में द्वितीय** आदि पद का **दर्शन** उपपन्न **नहीं होवे। द्वितीय आदि पद का दर्शन होता है। इस से सब अवस्था** (=**संस्था**) **वाले ज्योतिष्टोम के दीक्षणीय आदि धर्म हैं।**

विकारास्तु कामसंयोगे सति नित्यस्य समत्वात् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व पक्ष 'संस्थाएं समान विधान वाली हैं' की निवृत्ति के **लिये है।** (विकाराः) उक्थ्यादि संस्थाएं अग्निष्टोम की विकार=विकृति भूत हैं (**कामसंयोगे**) **कामना के संयोग** (सति) होने पर उक्थ्यादि **संस्थाओं** का श्रवण **है।** (समत्वात्) **समता के कारण दीक्षणीयादि** धर्म (नित्यस्य) नित्य ज्योतिष्टोम=अग्निष्टोम के हैं। **दीक्षणीयादि धर्म** नित्यवत् पठित हैं। उनका काम संयोगवाले उक्थादि अनित्य संस्थाओं के साथ सम्बन्ध नित्य-अनित्य के विप्रतिषेध से विरुद्ध होवे। अतः नित्यवद् आम्नात धर्म नित्य ज्योतिष्टोम=अग्निष्टोम संस्था के ही जानने चाहियें।

विशेष—काशीमुद्रित भाष्य ग्रन्थ में 'सति' पद नहीं है। अन्य वृत्तियों में विद्यमान हैं। भट्ट कुमारिल ने **'स नित्यस्य समत्वात्'** पाठ माना हैं। (द्र० पृष्ठ १०६६)। **सः=दीक्षणीयादि धर्माः,।**

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. 'सति' पदं काशीमुद्रिते भाष्यपुस्तके नोपलभ्यते। पूनामुद्रिते तु 'स' पदं पठ्यते। वृत्तिकाराः 'सति' पदं पठन्ति। तन्त्रवार्तिके (१०६६ पृष्ठे) 'स नित्यस्य' इत्येवं पाठ उद्ध्रियते।

नैतदस्ति, समानविधाना इति । किं तर्हि ? उक्थ्यादयः संस्थाविकारभूताः स्युः[1] । अग्निष्टोमसंस्थमूरीकृत्य दीक्षणीयादयो धर्माः समाम्नाताः । कुतः ? उक्थ्यादीनां कामसंयोगेन श्रवणात्—पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्, षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत, अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्[2] इति । काम्यो गुणः श्रूयमाणो नित्यमर्थं विकृत्य निविशते । कथम् ? गुणादेवञ्जातीयके काम्ये फलनिर्वृत्तिः । पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयाद्, न ज्योतिष्टोमकाम उक्थ्यग्रहणकामो वा । यथा पशवो भवन्ति, तथा गृह्णीयादित्यर्थः । कथमिति? तत्रावश्यमितिकर्त्तव्यता अपेक्षितव्या, सन्निधानान्नित्यस्येतिकर्त्तव्यतयेति गम्यते । कथं पुनर्ययमितिकर्त्तव्यता सा नित्यस्येत्यवधार्यते, न पुनरस्यैव काम्यस्य, साधारणी वेति ? उच्यते । यत्र-यत्र गुणे कामो भवति तत्र-तत्र क्रियायां साध्यमानायां, नान्यथा । सा तत्रेतिकर्त्तव्यता या अन्तिकमुपनिपतति, सा साधनस्य वा साध्यस्य वेति सन्दिह्यमाना साध्यस्य भवितुमर्हति, नासौ साध्यस्याभवन्ती साधनेन सम्बद्ध्यते । एवं हि स

व्याख्या—[सब संस्थाएं] समान विधानवाली हैं, यह नहीं है । तो क्या है ? उक्थ्यादि संस्थाएं विकारभूत होवें । अग्निष्टोम संस्थावाले ज्योतिष्टोम को स्वीकार करके दीक्षणीयादि धर्म पढ़े गये हैं । किस हेतु से ? उक्थ्य आदि संस्थाओं के कामसंयोग से श्रवण होने से- पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्, षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत, अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत् (=पशु की कामनावाला उक्थ्य संस्था को ग्रहण करे अर्थात् उक्थ्य संस्था से यजन करे, वीर्य की कामनावाला षोडशी से स्तुति करे अर्थात् यजन करे, प्रजा की कामनावाले को अतिरात्र से यजन करावे) । श्रूयमाण काम्य गुण नित्य अर्थ को विकृत करके निविष्ट होता है । कैसे ? इस प्रकार के काम्य कर्म में गुण से फल की सिद्धि होती है । पशुकामः उक्थ्यं गृह्णीयात् (=पशु की कामनावाला उक्थ्य को ग्रहण करे), ज्योतिष्टोम की कामनावाला अथवा उक्थ्य ग्रहण की कामना वाला [उक्थ्य का ग्रहण] न करे । जैसे 'पशु प्राप्त होवें वैसे ग्रहण करे' यह अर्थ है । कैसे ? वहां इतिकर्त्तव्यता अवश्य अपेक्षित होवे, सामीप्य से नित्य (=अग्निष्टोम) की इतिकर्त्तव्यता से [उक्थ्य को सिद्ध करे] ऐसा जाना जाता है । (आक्षेप) यह कैसे निश्चय किया जाता है कि यह जो [श्रूयमाण] इतिकर्त्तव्यता है वह नित्य की है, इस काम्य की ही इतिकर्त्तव्यता नहीं है, अथवा साधारण (=नित्य और काम्य की) नहीं है ? (समाधान) जहां-जहां गुण में कामना होती है वहां-वहां साध्यमान क्रिया में [इतिकर्त्तव्यता अपेक्षित] होती है, अन्यथा नहीं होती है । वहां जो इतिकर्त्तव्यता समीप में स्थित होती है वह साधन की [इतिकर्त्तव्यता] है वा साध्य की, इस प्रकार सन्देह युक्त हुई साध्य की होने योग्य होती है । वह साध्य की न होती हुई साधन

---

१. तुलनीयम् । उक्थ्यः षोडश्यतिरात्रोऽप्तोर्यामश्चाग्निष्टोमस्य गुणविकाराः । आप० श्रौत० १४।१।१।।

२. अनुपलब्धमूलम् । तुलनीयम्—उक्थ्येन पशुकामो यजेत, षोडशिना वीर्यकामः, अतिरात्रेण प्रजाकामः पशुकामो वा । आप० श्रौ० १४।१।२।।

इतिकर्त्तव्यताविशेषश्चोद्यते—अनेन साधनेन साधकमुपकुर्यादिति। न चास्ति स प्रकारो, येनासाध्यमानायां क्रियायां तेन साधकः कृतो भवेत्। तस्मात् साधकस्यापि इतिकर्त्तव्यताविशेषमभ्युपगच्छता, साध्यस्यापीत्येतदभ्युपगमनीयम्। साध्यश्च ज्योतिष्टोमः, साधिकाः संस्थाः। तस्माज्ज्योतिष्टोमस्य तावत् सा इतिकर्त्तव्यतेति सिद्धम्॥

अथ कस्मान्न साधारणी? नित्यवदाम्नानात्। यदैव ज्योतिष्टोमः, तदैव दीक्षा। यदा तु ज्योतिष्टोमे पशुकामस्तदोक्थ्यसंस्था। सर्वदा ज्योतिष्टोमे धर्माः कर्त्तव्याः, एकदा उक्थ्यसंस्था। तत्र सर्वदा ज्योतिष्टोमस्य धर्माः कर्त्तव्याः। ते चोक्थ्यादिसंस्थस्य अर्थेनेति पूर्वमुत्तरेण विरुद्ध्यते—यदि सर्वदा, नोक्थ्यादीनामर्थेन। अथोक्थ्यादीनामर्थेन, न सर्वदा। उभयं विप्रतिषिद्धम्। तस्मान्न साधारणी। नित्यवदा-

---

से युक्त नहीं होती है। इस प्रकार ही वह इतिकर्तव्यता विशेष [चोदना वाक्य से] कहा जाता है—इस साधन से साधक को उपकृत (सिद्ध) करे अर्थात साधन को साधक बनावे। और कोई वह प्रकार नहीं है जिससे क्रिया के असाध्यमान होने पर उस इतिकर्त्तव्यतारूप साधन से साधक उपकृत हो सके। इस कारण साधक की इतिकर्त्तव्यताविशेष को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति को वह [इतिकर्त्तव्यता] साध्य की भी है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये। साध्य ज्योतिष्टोम है, साधिका संस्थाएं हैं। इस कारण वह इतिकर्त्तव्यता ज्योतिष्टोम की है, यह सिद्ध है।

विवरण—विकारभूताः स्युः—इसका तात्पर्य यह है कि उक्थ्यादि समाप्ति विशेष वाले कर्म फल-साधन रूप से कहे गये समाप्तियुक्त आश्रय की अपेक्षा करते हुए प्रकृत ज्योतिष्टोम का आश्रयण करके ज्योतिष्टोम की अग्निष्टोम संस्था को विकृत (=बदल) करके निविष्ट होते हुए विकार शब्द से कहे जाते हैं (द्र० तन्त्रवार्तिक)। दूसरे शब्द में विकारभूत अर्थात् विकृतिरूप। **नित्यमर्थं विकृत्य**—नित्य रूप से समाम्नात अग्निष्टोम के गुण को बाधकर काम्यगुण सम्बद्ध होता है। अग्निष्टोम भी नित्य और नैमित्तिकरूप से दो प्रकार का है। **वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत** यह नित्य प्रयोग का विधिवाक्य है। और **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** यह काम्य कर्म का विधायक वाक्य है। यहां नित्य कर्मरूप अग्निष्टोम अभिप्रेत है।

व्याख्या—अच्छा तो वह [दीक्षणीयादि रूप इतिकर्त्तव्यता] साधारण क्यों नहीं है? [अर्थात् सभी संस्थाओं की वह इतिकर्त्तव्यता क्यों न होवे?] **। नित्य के समान पाठ होने से, जब ही ज्योतिष्टोम होगा तभी दीक्षा होगी। परन्तु जब ज्योतिष्टोम में पशु की कामनावाला [प्रवृत्त] होगा, तब उक्थ्य संस्था होगी। ज्योतिष्टोम में [दीक्षणीयादि] धर्म सर्वदा करने चाहियें, एक बार [जब पशुकामना होवे तब] उक्थ्य संस्था करनी चाहिये। वहां सर्वदा ज्योतिष्टोम के धर्म करने चाहियें। वे उक्थ्यादि संस्थावाले के अर्थ (=पशुकामना) से पूर्व कथन उत्तर के साथ विरुद्ध होता है—यदि सर्वदा क्रियमाण हैं, तो उक्थयादि प्रयोजन से न होवें और यदि वे धर्म उक्थ्यादि प्रयोजन से अर्थात् उक्थ्यादि के होवें, तो सर्वदा क्रियमाणधर्म न होवें [उक्थ्यादि के विशेष कामना होने पर ही विधान होने से]। दोनों (=दीक्षणीयादि धर्म सदा करने योग्य हैं और उक्थ्यादि**

म्नानं च यदि अनित्यस्य स्याद्, नित्यवदाम्नानं तद् अनित्यं क्रियेत। तत्र नित्यवदाम्नानं बाध्येत। तस्मान्नित्यसंस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य, न काम्यस्योक्थ्यादिसंस्थस्येति ॥४३॥

अपि वा द्विरुक्तत्वात् प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥४४॥ (उ०)

नन्वग्निष्टोमसंस्थापि काम्या श्रूयते। द्वे हि तत्र आम्नाते—एकं नित्यवद्, एकं काम्यम्। तत्र द्वयोर्वाक्ययोः सामर्थ्यान्नित्य एव सकामो भविष्यति। नित्यताविघातो नास्तीत्यग्निष्टोमसंस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य दीक्षणीयादयो धर्मा भविष्यन्तीति ॥४४॥

वचनात्तु समुच्चयः ॥४५॥ (उ०)

अथ यदुक्तं द्वितीयतृतीयदर्शनं समानविधित्वेऽवकल्पते, नान्यथेति। वचनं

के भी धर्म हैं] परस्पर विरुद्ध हैं। इस कारण [दीक्षणीयादि धर्मरूप इतिकर्त्तव्यता] साधारणी नहीं है। नित्यवत् कथन ही यदि अनित्य का होवे तो जो नित्यवत् कथन है वह अनित्य किया जावे। उस अवस्था में उसका नित्यवत् कथन बाधित होवे। इस हेतु से [दीक्षणीयादि धर्म नित्य संस्था वाले ज्योतिष्टोम के हैं [अर्थात् अग्निष्टोम संस्था के हैं], काम्य उक्थ्यादि संस्थावाले ज्योतिष्टोम के नहीं हैं।

अपि वा द्विरुक्तत्वात् प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥४४॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) अथवा दीक्षणीयादि धर्मों को प्रकृति विकृति में साधारण मानें तो (द्विरुक्तत्वात्) द्विरुक्त होने से (प्रकृतेः) प्रकृति के (भविष्यन्ति) होवेंगे (इति) ऐसा निश्चय होता है।

विशेष—यह सूत्र सुबोधिनी और कुतुहलवृत्ति में व्याख्यात नहीं है। वचनस्वरूप से भी यह सूत्र ज्ञात नहीं होता है। सूत्र के अन्त में इति शब्द का अन्यत्र योग नहीं मिलता है। वस्तुतः यह भाष्यवचन ही है। पूर्वसूत्र के भाष्य से ही सम्बद्ध यह वचन है। इसी वचन का अगला भाष्य प्रपञ्च है। तन्त्रवार्तिक में भी यहां का भाष्य पूर्वसूत्र के साथ ही व्याख्यात है।

व्याख्या—(आक्षेप) अग्निष्टोम संस्था भी तो काम्य सुनी जाती है? (समाधान) वहां दो अग्निष्टोम संस्थाएं पठित हैं। एक नित्य और दूसरी काम्य। वहां दो वाक्यों के सामर्थ्य से नित्य ही सकाम (=कामना युक्त) होगा। नित्यता का विघात नहीं होता है, इससे अग्निष्टोम संस्थावाले ज्योतिष्टोम के ही दीक्षणीयादि धर्म होवेंगे।

वचनात्तु समुच्चयः ॥४५॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) वचन के सामर्थ्य से (तु) ही (समुच्चयः) द्वितीय तृतीय पशु का समुच्चय होता है।

व्याख्या—और जो यह कहा है—द्वितीय तृतीय पशु का दर्शन समान विधित्व में ही

तद् भविष्यति, न दर्शनम्। ऐन्द्राग्न उक्थ्ये द्वितीयो विधीयते, तथैन्द्रः षोडशिनि तृतीयः ॥४५॥

प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ॥४६॥ (उ०)

इतश्च पश्यामः प्रकृतिविकारभाव इति। कुतः ? प्रतिषेधात् पूर्वलिङ्गानाम्। यदि अग्निष्टोमो जुहोति, यदि उक्थ्यः परिधिमनक्ति, न जुहोतीति होमाभावदर्शनं न स्यात्। प्राप्ते निमित्ते वचनप्रामाण्यात् सामान्यविधेः ॥४६॥

गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥ ४७ ॥ (उ०)

अथ यदुक्त व्यपदेश इति। एकस्यैवाधिकृतस्य यथोक्तेन न्यायेन अयमनधिकृतेन गुणेन व्यपदेशः। अग्निष्टोमग्रहणञ्चानुवाद इति ॥४७॥ **दीक्षणीयादिधर्माणामग्निष्टोमाङ्गताधिकरणम् ॥१६॥**

इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याऽध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

उपपन्न होता है, अन्यथा नहीं होता। वह वचन (=विधिवाक्य) होगा, दर्शन नहीं होगा। उक्थ्य में ऐन्द्राग्न द्वितीय पशु विहित होता है तथा षोडशी में ऐन्द्र तृतीय।

प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ॥४६॥

सूत्रार्थः—(पूर्वलिङ्गानाम्) पूर्व के लिङ्गों के (प्रतिषेधात्) प्रतिषेध से (च) भी प्रकृति-विकार भाव जाना जाता है।

व्याख्या—इस से भी जानते हैं कि प्रकृति विकृति भाव है। किस से ? पूर्व लिङ्गों के प्रतिषेध से। यदि अग्निष्टोम होता है तो [प्रचरणीस्थ शेष घृत से] होम करता है, यदि उक्थ्य होता है तो परिधि को घृत से चुपड़ता है। [अर्थात् होम नहीं करता] यह होम के अभाव का दर्शन न होवे। [दीक्षणीयादि धर्मों के] समान विधित्व में निमित्त के प्राप्त होने पर वचन प्रामाण्य से नैमित्तिक होम होवे ही।

गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥४७॥

सूत्रार्थः—(गुणविशेषात्) प्रति संस्था अन्त्य स्तोत्ररूप गुण के विशेष से (एकस्य) एक का भिन्न-भिन्न नामों से (व्यपदेशः) कथन होता है। [वृत्त्यनुसारी सूत्रार्थ]

व्याख्या—और जो यह कहा है—[समान प्रकरण की तरह ही] व्यपदेश(=कथन) होता है। एक ही अधिकृत [अग्निष्टोम] का यथोक्तन्याय से यह अनधिकृत [होमरूप] गुण से व्यपदेश है और यहां अग्निष्टोम का ग्रहण अनुवाद है।

इति युधिष्ठिरमीमांसककृतायाम्
आर्षमत-विमर्शिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां

तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः पूर्तिमगात् ॥

तृतीयाध्याये सप्तमः पादः

[बर्हिरादीनां दर्शपूर्णमासयोरङ्गप्रधानसाधरणाधिकरणम् ॥१॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र बर्हिर्बर्हिर्धर्माश्च, तथा वेदिर्वेदिधर्माश्च । तत्र सन्देहः— किं बर्हिरादयो बर्हिरादिधर्माश्च प्रधानस्य, उत अङ्गप्रधानानामिति । किं तावत् प्राप्तम् ?

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥ १ ॥ (पू०)

प्रधानस्य एवञ्जातीयका धर्माः । कस्मात् ? प्रकरणविशेषात् । प्रधानानां हि प्रकरणं, नाङ्गानाम् । प्रकरणेन चैषां सम्बन्धः । तस्मात् प्रधानस्य ॥१॥

व्याख्या - दर्शपूर्णमास याग हैं । उनमें बर्हि और बर्हि के धर्म तथा वेदि और वेदि के धर्म पढ़े हैं । उनमें सन्देह है क्या बर्हि और बर्हि आदि के धर्म प्रधान याग के हैं अथवा अङ्ग प्रधान सभी के हैं ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—तत्र बर्हिः- बर्हिषि हवींष्यासादयति (=बर्हि पर हवियों को रखता है) इस में बर्हि का दर्शन है । बर्हिर्धर्माः— बर्हिर्लुनाति सम्भरति सन्नह्यति प्रोक्षति (=बर्हि को काटता है, लाता है, बांधता है, प्रोक्षण करता है) । तथा वेदिः—वेद्यां हवींष्यासादयति (=वेदि में हवियों को रखता है) । वेदिधर्माश्च —वेदिं खनति सम्मार्ष्टि, परिगृह्णाति, प्रोक्षति (=वेदि को खोदता है, सम्मार्जन=शुद्ध करता है, स्फ्य के द्वारा रेखा से वेदिका परिग्रहण करता है, जल से प्रोक्षण करता है) ।

प्रकरणविशेषादसंयुक्त प्रधानस्य ॥ १ ॥

सूत्रार्थः—(प्रकरणविशेषात्) प्रकरणविशेष से (असंयुक्तम्) असंयुक्त अर्थात् प्रकरण विशेष में न पढ़े हुए द्रव्य वा द्रव्य धर्म (प्रधानस्य) प्रधान के होते हैं अर्थात् प्रधान कर्म के लिये होते हैं ।

व्याख्या—इस प्रकार के (=प्रकरण विशेष से असंयुक्त) धर्म प्रधान के होते हैं । किस हेतु से ? प्रकरण विशेष से । प्रधानों का हि प्रकरण है । अङ्गों का नहीं है । प्रकरण के साथ इन धर्मों का सम्बन्ध होता है । इस कारण प्रधान के हैं ।

विवरण—प्रधानस्य—प्रधान कर्म और उनकी हवियों के ।

सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥ २ ।(उ०)

सर्वेषां वाऽङ्गप्रधानानामिमे धर्माः । नात्र शेषत्वं प्रकरणाद् भवति । उपकार-लक्षणं हि तत् । यद् यस्योपकरोति, तत्तस्य शेषभूतम् । सर्वेषां चाङ्गप्रधानानामिमे धर्मा उपकुर्वन्ति । कथमवगम्यते ? वाक्यात् । 'वेद्यां हवींषि मासादयति' इति हविर्मात्रं वाक्याद् गम्यते । प्रधानहवींषि प्रकरणात् । वाक्यं च प्रकरणाद् बलीयः । तस्माद् 'बर्हिषि हवींष्यासादयति'[1] इति ।

आह । यदि प्रकरणं वाक्येन बाध्यते, लोकेऽपि बर्हिषामिमे धर्मा उक्ता भवन्ति । तत्र को दोषः ? सर्वत्र धर्माः कर्त्तव्याः प्राप्नुवन्ति । उच्यते । प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासयो-रुपकारका एवेति गम्यते । तस्माल्लौकिकेषु न कर्त्तव्याः । एवं चेद्, अङ्गान्यपि न दर्शपूर्णमासशब्दकानि । तस्मात्तेष्वपि न प्राप्नुवन्ति । उच्यते । यद्यप्यङ्गानि न

सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। (सर्वेषाम्) सब अङ्गों और प्रधानों के धर्म होवें। (शेषत्वस्य) शेषत्व के (अतत्प्रयुक्तत्वात्) प्रकरणविशेष से प्रयुक्त न होने से। अर्थात् जो जिसका उपकारक होता है वह उसका शेष होता है। बर्हि आदि और उनके धर्म सभी अङ्गों और प्रधानों के उपकारक हैं।

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में **सर्वेषां वा शेषत्वं स्यात् तत्प्रयुक्तत्वात्** ऐसा सूत्रपाठ है। इसका अर्थ होगा—(सर्वेषाम्) सब अङ्ग और प्रधानों का बर्हि आदि का (शेषत्वम्) शेषभाव (स्यात्) होवे (तत्प्रयुक्तत्वात्) हविर्मात्र प्रयोजकत्व के श्रवण होने से।

व्याख्या—सब अङ्ग और प्रधानों के ये धर्म हैं। यहां शेषत्व प्रकरण से नहीं होता है। शेषत्व उपकार लक्षण है। जो जिसका उपकार करता है वह उसका शेषभूत होता है। सब अङ्ग प्रधानों के ये धर्म उपकार करते हैं। कैसे जाना जाता है कि सब का उपकार करते हैं? वाक्य से। वेद्यां हवींषि सादयति (=वेदि में हवियों को स्थापित करता है) यहां वाक्य से हविर्मात्र जानी जाती है। प्रधान हवि की प्रतीति प्रकरण से होती है। वाक्य से प्रकरण बल-वान् होता है। इसलिये बर्हिषि हवींष्यासादयति से सब हवियों का बर्हि पर स्थापन होता है।

(आक्षेप) यदि प्रकरण वाक्य से बाधा जाता है तो लोक में भी बर्हि के ये लवनादि धर्म उक्त होते हैं। (समाधान) प्रकरण से दर्शपूर्णमास के ही उपकारक हैं, ऐसा जाना जाता है। इस कारण लौकिक कर्मों में [बर्हि के धर्म] नहीं करने चाहियें। (आक्षेप) यदि ऐसा है तो अङ्ग भी दर्शपूर्णमास शब्दवाले नहीं हैं। [अर्थात् दर्शपूर्णमास शब्दवाच्य नहीं हैं]। इस कारण उनमें भी धर्म प्राप्त नहीं होते हैं। (समाधान) यद्यपि अङ्ग दर्शपूर्णमास शब्दवाले नहीं हैं,

---

1. अनुपलब्धमूलम्।

दर्शपूर्णमासशब्दकानि, दर्शपूर्णमासयोरुपकारकाणि। एषु क्रियमाणा धर्मा दर्शपूर्णमासयोरुपकरिष्यन्ति। तस्मादङ्गप्रधानेषु कर्त्तव्या इति ॥२॥

आरादपीति चेत् ॥ ३ ॥ (पू०)

पिण्डपितृयज्ञेऽपि बर्हिर्धर्मैर्युज्येत। सोऽपि दाते बर्हिषि वर्त्तते। तस्य चाऽपि बर्हिषाऽस्ति प्रयोजनम्। तदप्याराच्छिष्टधर्म्मवत्[1] स्यात् ॥३॥

तथापि दर्शपूर्णमास के उपकारक हैं। इन में किये गये धर्म दर्शपूर्णमास का उपकार करेंगे। इसलिये अङ्ग और प्रधानों में [बर्हि आदि के धर्म] करने चाहियें।

विवरण — **प्रकरणाद् दर्शपूर्णमासयोः**—इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है—यहां भाष्यकार ने लोक में अतिप्रसङ्ग की निवृत्ति के लिये **प्रकरणात्** इत्यादि कहा है। वह उत्तर परिचोदना (=आशङ्का) के अनवतार प्रसंग से अतित्वरित कहा है [अर्थात् **प्रकरणात्** समाधान के यहां उपस्थित कर देने पर अगले सूत्र से जो आशङ्का उपस्थित की है उसका अवतरण ही नहीं हो सकता]। इसलिये यह भाष्य उपेक्षणीय है।' यद्यपि भट्ट कुमारिल ने समाधान रूप में निर्दिष्ट **प्रकरणाद् दर्शपूर्णमासयोः** के लिये ही लिखा है, तथापि समाधान के अभाव में पूर्व आशङ्का अनुत्तरित रह जायेगी। अतः यहां भट्ट कुमारिल का कथन आशङ्का और समाधान दोनों भाष्यों के लिये जानना चाहिये। तन्त्रवार्तिक के उक्त वचन की व्याख्या में भट्ट सोमेश्वर ने लिखा है—'यह भाष्य उत्तर सूत्र-**न तद् वाक्यं** (३।७।४) सूत्र के **यद्दर्शपूर्णमासार्थं तत्र प्राप्नुवन्ति,' नान्यत्र** भाष्य के अनन्तर व्याख्येय है।'

आरादपीति चेत् ॥३॥

सूत्रार्थः—(आरात्) दूर पठित=दर्शपूर्णमास से बाहर पठित पिण्डपितृयज्ञ में (अपि) भी बर्हि आदि के धर्म (इतिचेत्) होवें तो।

विशेष—सुबोधिनीवृत्तिकार ने 'आरात्' का अर्थ समीप किया है। पिण्डपितृयज्ञ दर्शपूर्णमास के अनन्तर अव्यवहित पढ़ा है। यद्यपि आरात् पद के दूर और समीप दोनों अर्थ होने से सुबोधिनीकार की व्याख्या उपपन्न तो हो सकती है, परन्तु भाष्यकार को यहां आरात् पद दूरार्थक ही अभिप्रेत है। यह इसी सूत्र के भाष्य में **आराच्छिष्टधर्मवत्** वचन से अ० ३, पा० ६, अधि० ११ (सूत्र ३२-३४) के सिद्धान्त की ओर संकेत करने से व्यक्त होता है।

व्याख्या—**पिण्डपितृयज्ञ में भी बर्हि धर्मों से युक्त होवे। वह भी दात (=काटी हुई) कुशा पर होता है। उसको भी बर्हि से प्रयोजन है। वह (=पिण्डपितृयज्ञ) भी आराद् उक्त धर्म के समान होवे।**

---

१. अत्र मी० अ० ३, पाद ६, अधि० ११ (सूत्र ३२-३४) द्रष्टव्यम्।

न तद् वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥४॥ (उ०)

न तस्य बर्हिरेतैर्धर्मवत्। वाक्यं हि एकं दर्शपूर्णमासाभ्यां सह धर्माणाम्। तेन दर्शपूर्णमासयोरुपकारका धर्माः, यद् दर्शपूर्णमासार्थं, तत्र प्राप्नुवन्ति, नान्यत्र। तस्मात् पिण्डपितृयज्ञबर्हिषो न भविष्यन्ति ॥४॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥ (उ०)

लिङ्गं भवति। एवमाह—'स वै ध्रुवामेवाग्रेऽभिघारयति, ततो हि **प्रथमावाज्यभागौ यक्ष्यन् भवति'** इत्यभिघारणस्य आज्यभागार्थतां दर्शयति ॥५॥ **बर्हिरादीनां दर्शपौर्णमासयोरङ्गप्रधानसाधारणताऽधिकरणम्** ॥१॥

—:o:—

विवरण—**आराच्छिष्टधर्मवत्**—इस से तीसरे अध्याय के छठे पाद के 'आराच्छिष्ट अंशु और अदाभ्य को ग्रहधर्म' नामक सातवें अधिकरण की ओर संकेत किया है। वहां दूर कहे गये अंशु और अदाभ्य भी जैसे ग्रहधर्मों से युक्त होते हैं, उसी प्रकार पिण्डपितृयज्ञ भी बर्हि आदि के धर्मों से युक्त होता है।

न तद् वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(न) पिण्डपितृयज्ञ का बर्हि बर्हिधर्मों से युक्त न होवे। (तद् वाक्यम्) वह **बर्हिष हवींष्यासादयति** वाक्य (हि) निश्चय से दर्शपूर्णमास विषयक है। (तदर्थत्वात्) दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित होने से दर्शपूर्णमास के लिये ही है।

व्याख्या—उस पिण्डपितृयज्ञ का बर्हि इन (=बर्हि के) धर्मों से धर्मवान् (धर्मयुक्त) नहीं है। **बर्हि आदि के धर्मों का वाक्य निश्चय से दर्शपूर्णमास के साथ एक वाक्यता को प्राप्त है। इस कारण दर्शपूर्णमास** के उपकारक **बर्हि आदि के धर्म जो दर्शपूर्णमास के लिये हैं, वहां प्राप्त** होते हैं, **अन्यत्र प्राप्त नहीं होते हैं। इस कारण पिण्डपितृयज्ञ के बर्हि के नहीं होंगे।**

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी बर्हि आदि **के धर्म अङ्ग और** प्रधान दोनों के लिये हैं।

व्याख्या—लिङ्ग होता है। ऐसा कहा है—स वै ध्रुवामेवाग्रे ऽभिघारयति ततो प्रथमौ आज्यभागौ यक्ष्यन् भवति (=[**प्रयाजशेष घृत से हवियों का आधारण करता है]** **वह पहले ध्रुवा का आघारण करता है।** उस से **प्रथम आज्यभागों का यजन करनेवाला होता है)** **यह अभिघारण की आज्यभागार्थता दिखाता है।**

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

[स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थताधिकरणम् ॥२॥]

ज्योतिष्टोमे केशश्मश्रुणोर्वपन पयोव्रतानि तपश्चाम्नातानि । तेषु सन्देहः—किमङ्गप्रधानार्थानि, उत प्रधानार्थानि ? किं तावत् प्राप्तम् ? अङ्गप्रधानार्थानीति, पूर्वेण न्यायेन प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

फलसंयोगात् तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य ॥६॥ (उ०)

स्वामियुक्तमेतत् । तस्मात् प्रधानस्य । कस्मात् ? फलसंयोगात् । पुरुषस्य यागेन अयं सम्बन्धः । यागोऽपूर्वस्य दाता, पुरुषः प्रतिग्रहीता । नन्वपरोऽप्यस्ति सम्बन्धः । यागो निर्वर्त्यः, पुरुषोऽभिनिर्वर्त्तक इति । फलेन तु सम्बन्धो भविष्यतीत्येवमर्थः पुरुषः

विवरण—**आज्यभागार्थतां दर्शयति**—यदि बर्हि और वेदि के समान अभिघारण धर्म अङ्ग और प्रधान दोनों के लिये हो तो तभी उसका आज्यभाग की हवि के लिये अभिघारण का कथन उपपन्न होता है । क्योंकि आज्यभाग अङ्ग कर्म है ।

विशेष—इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्व पक्ष में महापितृयज्ञ में **देवबर्हिः** (तै० सं० १।१।२) मन्त्र में पितृबर्हि और पृथिवि देवयजनि (तै० सं० १।१।९) इत्यादि वेदि के मन्त्र में पृथिवि पितृयजनि ऊह होगा । सिद्धान्त पक्ष में अङ्गप्रधान हवि के लिये बर्हि और वेदि के होने से देवपितृबर्हि और देवपितृयजनि ऊह होगा । क्यों कि वहां महापितृयज्ञ में प्रयाजादि अङ्गों के प्रकृति के समान अग्न्यादि देवता होने और प्रधान के पितृदैवतार्थ होने से दोनों का निर्देश होगा ।

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में केश श्मश्रु का वपन, प्रयोव्रत और तप आम्नात हैं । उनमें सन्देह होता है—ये केशश्मश्रु-वपन आदि अङ्ग और प्रधान कर्मों के लिये हैं अथवा प्रधान कर्म के लिये हैं ? क्या प्राप्त होता है ? पूर्वन्याय से अङ्ग और प्रधान कर्मों के लिये हैं । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

फलसंयोगात् तु स्वामिसंयुक्तं प्रधानस्य ॥६॥

सूत्रार्थः—(स्वामिसंयुक्तम्) स्वामी=यजमान से संयुक्त केशश्मश्रु-वपन आदि संस्कार कर्म (तु) तो (प्रधानस्य) प्रधान कर्म के हैं ।

व्याख्या—यह [केशश्मश्रुवपन आदि संस्कार] स्वामी (=यजमान) से संयुक्त है । इस कारण प्रधानकर्म के हैं । किस हेतु से ? फल के संयोग से । पुरुष का याग के साथ यह संबन्ध है—याग अपूर्व का देनेवाला है और पुरुष उसका लेनेवाला । (आक्षेप) और भी संबन्ध है—याग निर्वर्त्य (=साध्य) है और पुरुष निर्वर्तक (=साधक) है । (समाधान) फल के साथ सम्बन्ध होगा इसलिये पुरुष श्रुत है । वह याग को सिद्ध नहीं करता है । याग सताकत्व से सम्बद्ध

श्रूयते, न हि यागं स साधयति। यागः सत्तया सम्भन्त्स्यते इति। किमिति तर्हि निर्वर्त्तयतः फलं भवतीति? संस्काराश्च संस्कुर्वन्तीत्युच्यन्ते? यत् तस्य संस्कर्तव्यस्य प्रयोजनं, तत्र सामर्थ्यं जनयन्तीति। फलं च ग्रहीतुं पुरुषस्य प्रयोजनं, न यागमभिनिर्वर्त्तयितुम्। तस्माद् ये पुरुषसंस्कारास्ते पुरुषं फलप्रतिग्रहणसमर्थं कुर्वन्ति, न यागनिर्वृत्तिसमर्थम्। आह। यदि यागनिर्वृत्तौ न सामर्थ्यं जनयन्ति, कथं तर्हि यागधर्मास्ते भवन्ति? उच्यते। यागस्य स्वार्थं साधयतः साहाय्ये वर्त्तन्ते। कश्च तस्य स्वार्थः? यदस्य कर्त्ता फलेन सम्बद्धयते। तस्मात् स्वामिसंस्काराः प्रधानाऽर्था इति ॥६॥ **स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थताधिकरणम् ॥२॥**

—:०:—

[सौमिकवेद्यादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम् ॥३॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**षट्त्रिंशत्प्रक्रमा प्राची चतुर्विंशतिरग्रेण त्रिंशज्जघनेन इयति शक्ष्यामहे**[1]

होगा। (आक्षेप) तो यह कैसे कहा जाता है—**याग को सिद्ध करते हुए को फल होता है। और संस्कार उसे संस्कृत करते हैं?** (समाधान) **उस संस्कर्तव्य का जो प्रयोजन है उसमें संस्कार सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं। और फल के ग्रहण के लिये पुरुष का प्रयोजन है [अर्थात् पुरुष का प्रयोजन फल प्राप्त करना है]। याग के सिद्ध करने के लिये पुरुष का प्रयोजन नहीं है। इस कारण जो पुरुष के संस्कार हैं वे पुरुष को फल के ग्रहण में समर्थ बनाते हैं। याग की सिद्धि में समर्थ नहीं करते।** (आक्षेप) **यदि संस्कार याग-सिद्ध करने में सामर्थ्य उत्पन्न नहीं करते तो फिर वे याग के धर्म** कैसे होते हैं? (समाधान) **याग का जो अपना प्रयोजन है, उसको सिद्ध करते हुए के साहाय्य में वर्तमान होते है [अर्थात् याग के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाले की सहायता करते हैं]। याग का अपना प्रयोजन क्या है? जो इस याग का कर्त्ता है, वह फल में सम्बद्ध होवे। इस कारण स्वामी के संस्कार प्रधान के लिये है।**

विवरण—यदस्य कर्ता—इस का तात्पर्य यह है कि अङ्गकर्म साक्षात् फल को उत्पन्न नहीं करते, अपितु प्रधान कर्म का उपकार करते हुए ही उस के साथ संबद्ध होते हैं। इसलिये फलजनक प्रधान कर्म के लिये ही ये संस्कार हैं ॥६॥

—:०:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—षट्त्रिंशत् प्रक्रमा प्राची, चतुर्विंशतिरग्रेण त्रिंशज्जघनेन इयति शक्ष्यामहे** (=[**सोम याग** की महावेदि] ३६ **प्रक्रम वाली [पश्चिम से] पूर्व,**

---

१. **अनुपलब्धमूलम्। मै० संहितायाम्** (३।८।४) 'इयति शक्ष्यामहे' भागं परित्यज्य यथाश्रुतं पाठ उपलभ्यते। **किञ्चिद्व्युत्क्रमेण** काठकसंहितायाम् (२५।४) **कठकपिष्ठलसंहितायां** (३९।१) **च द्रष्टव्यः।** तैत्तिरीयसंहितायाम् (६।२।४) प्रक्रमस्थाने 'पद' शब्दः श्रूयते। **अत्र** उक्तपाठात् पुरस्तात् 'इयति शक्ष्यामि' पाठो दृश्यते।

इति। तत्र सन्देहः किमेषा वेदिरङ्गप्रधानार्था, उत प्रधानार्था इति? किं तावत् प्राप्तम्?

चिकीर्षया च संयोगात् ॥७॥ (पू०)

चिकीर्षया च संयोगात् प्रधानार्थेति। का चिकीर्षा? इयति शक्ष्यामहे इति। यच्चिकीर्षितं, तस्यार्थेनैषा श्रूयते, शक्ष्यामहे अस्यां कर्त्तुमिति। प्रधानं च तस्य चिकीर्षितं, नाङ्गानि। प्रधानं हि फलवद्, नाङ्गानि। आह। यदि अङ्गानि न चिकीर्षितानि,

---

अग्रभाग से [पूर्व में दक्षिण से उत्तर] २४ प्रक्रम वाली, जघन से [पश्चिम में दक्षिण से उत्तर] ३० प्रक्रमवाली होती है। इतने परिमाण वाले स्थान में यज्ञ करने में समर्थ होंगे=यज्ञ कर सकेंगे)। इस में सन्देह है—क्या यह वेदि अङ्ग और प्रधान कर्मों के लिये है अथवा प्रधान कर्मों के लिये? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—षट्त्रिंशत्प्रक्रमा—तैत्तिरीय संहिता ६।२।४ में प्रक्रम के स्थान में पद (=पाद) शब्द का प्रयोग मिलता है। आपस्तम्ब शुल्बसूत्र खण्ड ४ में त्रिंशत् पदानि प्रक्रमा वा पश्चात् में पद और प्रक्रम के भेद से वेदि का परिमाण उक्त है (संख्या पूर्व पश्चिम आदि की समान है)। प्रक्रम और पद के परिमाण के विषय में इसी सूत्र की व्याख्या में सुन्दरराज ने लिखा है—क्षुद्र (=छोटा) पद 'दश अङ्गुल' होता है, पद पञ्चदश अङ्गुल का होता है ऐसा बौधायन ने दो प्रकार का पद कहाहै। कात्यायन ने बारह अङ्गुल का पद माना है। लौकिक पद २४ अङ्गुल का होता है। ये चार प्रकार के दुगुने तिगुने पद प्रक्रम कहाते हैं' (द्र० आप० शुल्ब सुन्दरराजीय व्याख्या पृष्ठ ७६, मैसूर संस्करण)। इस से स्पष्ट है कि शाखाभेद से न केवल पद और प्रक्रम के गणना भेद से ही महावेदि का परिणाम भेद कहा गया है, अपितु पद-प्रमाण की विविधता तथा प्रक्रम परिमाण की विविधता से भी वेदि के परिमाण में भेद होता है। अतः यथाशाखा परिमाण जानना चाहिये।

चिकीर्षया च संयोगात् ॥७॥

सूत्रार्थः (चिकीर्षया) करने की इच्छा से (च) भी (संयोगात्) संयोग होने से सौमिकी महावेदि प्रधान कर्म के लिये है।

विशेष—सूत्रस्थ चकारका किसी व्याख्याकार ने अर्थ नहीं दर्शाया है। हमारा भी विचार है कि चकार छन्द के अनुरोध से पढ़ा गया है। यह अनुष्टुप् का एक चरण है। प्राचीन श्लोकबद्ध मीमांसाशास्त्र की छाया जैमिनि प्रोक्त मीमांसाशास्त्र में भी है। यह हम पूर्व (पृष्ठ १०१५-१०१६) कह चुके हैं।

व्याख्या—चिकीर्षा के संयोग से वेदि प्रधानार्थ है। चिकीर्षा क्या है? इयति शक्ष्यामहे (=इतने स्थान में हम समर्थ होंगे)। जो करने को इच्छित है उसके लिये यह सुना जाता है—शक्ष्यामहे अस्यां कर्तुम् (=इस वेदि में करने को समर्थ होंगे)। उस यजमान का प्रधान कर्म ही चिकीर्षित है, अङ्ग चिकीर्षित नहीं हैं। (आक्षेप) यदि अङ्ग चिकीर्षित नहीं हैं तो क्यों किये

किमथ क्रियन्ते इति । उच्यते । अचिकीर्षितान्यप्यङ्गानि क्रियन्ते. यद्यपि तानि न चिकीर्ष्यन्ते, तथापि तैरचिकीर्षितैरन्यच्चिकीर्ष्यते । तस्मात् तानि क्रियन्ते इति । यच्चिकीर्षितं तस्य वेदिः । तस्मात् प्रधानार्थेति ।

स्थितं तावदपर्यवसितम् ॥७॥ सौमिकवेद्यादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गताऽधिकरणस्य पूर्वपक्षः ॥३॥

[अभिमर्शनस्याङ्गप्रधानोभयाङ्गताधीकरणम् ॥४॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र श्रूयते - चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत पञ्चहोत्रा अमावास्याम्[1] इति । तत्र सन्देहः -- किमङ्गप्रधानार्थमभिमर्शनमुत प्रधानार्थमिति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

तथाभिधानेन ॥ ८ ॥ (पू०)

जाते हैं ? (समाधान) चिकीर्षित न होते हुए भी अङ्ग किये जाते हैं । यद्यपि वे अङ्ग चिकीर्षित नहीं हैं फिर भी उन अचिकीर्षित अङ्गों से अन्य (प्रधान) चिकीर्षित है । इसलिये वे किये जाते हैं । जो [प्रधान] चिकीर्षित है उसकी यह वेदि है । इस कारण वेदि प्रधान के लिये है ।

यह अधिकरण असमाप्त [पूर्व पक्ष पर] ही रुक गया । [इस का सिद्धान्त पक्ष नवम सूत्र से दर्शाएंगे] ॥७॥

व्याख्या—दर्शपूर्णमास हैं । वहां सुना जाता है—चतुर्होत्रा पूर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्रा अमावास्याम् (=चतुर्होतृ संज्ञक मन्त्र से पौर्णमास याग से संबद्ध हवि का स्पर्श करे, पञ्चहोतृमन्त्र से अमावास्या याग से संबद्ध हवि का स्पर्श करे) । इन में सन्देह है—यह अङ्ग और प्रधान के लिये अभिमर्शन है अथवा प्रधानार्थ ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अङ्गप्रधानार्थः—अङ्ग हवि और प्रधान हवि के लिये अभिमर्शन हैं ।

तथाभिधानेन ॥८॥

सूत्रार्थः—(तथा) उसी प्रकार जैसे केशश्मश्रुवपन आदि संस्कार प्रधान के लिये है उसी प्रकार (अभिधानेन) पौर्णमासी अमावास्या के निर्देश से चतुर्होतृ पञ्चहोतृ मन्त्र से स्पर्श प्रधानार्थ है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तुलना कार्या—चतुर्होत्रा पौर्णमास्यां हवींष्यासन्नान्यभिमृशेत् प्रजाकामः, पञ्चहोत्रा अमावास्यां स्वर्गकामः ॥ आप० श्रौत ४।८।७॥ चतुर्होतृमन्त्रस्तु—पृथिवी होता। द्यौरध्वर्युः, रुद्रोऽग्नीत् । बृहस्पतिरुपवक्ता ॥ तै० आ० ३।२।१॥ उपवक्ता=ब्रह्मेति सायणः । पञ्चहोतृमन्त्रस्तु—अग्निर्होता । अश्विनाऽध्वर्यू । त्वष्टाग्नीत् । मित्र उपवक्ता ॥ तै० आ० ३।३।१॥ अत्र अश्विनौ द्वौ । अध्वर्यू अपि द्वौ–अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता च (द्र० सायणभाष्यम्) ।

प्रधानार्थमिति। प्रधाननामधेयञ्चैतत् पौर्णमासी अमावास्येति च। तस्मात् प्रधानस्याभिमर्शनमिति ॥८॥

तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात् सर्वचिकीर्षा स्यात् ॥९॥ (उ०)

स्थितादुत्तरम्। यदुक्तं प्रधानं चिकीर्षितं नाङ्गानि। तस्मात् प्रधानस्य वेदिरिति। तन्न। तद्युक्ते फलश्रुतिः। साङ्गात् फलं श्रूयते। तस्मात् साङ्गं चिकीर्षितम्। यद्यप्यङ्गानि न चिकीर्षितानि, तथापि वेद्यां कर्त्तव्यानि। अन्यथा न साङ्गं वेद्यां कृतं भवति ॥९॥ **निरुक्ताऽधिकरणसिद्धान्तः ॥३॥**

गुणाभिधानात् सर्वार्थमभिधानम् ॥१०॥ (उ०)

यदुक्तं, प्रधाननामत्वात् पौर्णमासीशब्दस्यामावास्याशब्दस्य च, प्रधानहविषामभिमर्शनमिति। नैतदेवम्। अङ्गहविषामप्यभिमर्शनं स्यात्। कुतः? गुणाभिधानात्।

व्याख्या—अभिमर्शन प्रधानार्थ है। यह प्रधान का नाम है—पौर्णमासी और अमावास्या। इस कारण प्रधान का अभिमर्शन है [अर्थात् प्रधान याग की हवि का अभिमर्शन विहित है] ॥८॥

तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात् सर्वचिकीर्षा स्यात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त 'प्रधानार्थ वेदि है' के निराकरणार्थ है। (तद्युक्ते) अङ्गों से युक्त में (फलश्रुतिः) फल का श्रवण होता है (तस्मात्) इस कारण (सर्वचिकीर्षा) सब अङ्ग और प्रधान चिकीर्षित (स्यात्) होवें। [सातवें सूत्र में पूर्वपक्ष का निर्देश करके ही अधिकरण को मध्य में छोड़ दिया था, उसका उत्तर इस सूत्र से दिया है।

व्याख्या—स्थित (=ठहरे हुए पूर्व पक्ष) से यह उत्तर सूत्र है। जो यह कहा है कि प्रधान चिकीर्षित है अङ्गचिकीर्षित नहीं हैं। इस कारण प्रधान की वेदि है। वह युक्त नहीं है। उस अङ्ग से युक्त प्रधान में फल की श्रुति है। साङ्ग कर्म से फल सुना जाता है। इसलिये साङ्ग कर्म चिकीर्षित है। यद्यपि अङ्ग [साक्षात्] चिकीर्षित नहीं हैं, तथापि वेदि में करने चाहियें। अन्यथा वेदि में साङ्ग कर्म किया हुआ नहीं होता है ॥९॥

गुणाभिधानात् सर्वार्थमभिधानम् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(गुणाभिधानात्) अभिमर्शनरूप गुण का कथन होने से (सर्वार्थम्) अङ्ग और प्रधान सब के लिये (अभिधानम्) पूर्णमासी और अमावास्या का अभिधान=कथन है।

व्याख्या—जो यह कहा है कि पूर्णमासी और अमावास्या शब्द के प्रधान कर्म का नाम होने से प्रधान हवियों का अभिमर्शन होता है। ऐसा नहीं है। अङ्ग हवियों का अभिमर्शन भी होवे। किस हेतु से? गुण के कथन से। गुण अभिमर्शन है, ऐसा कथन होता है। वह कथन

गुणोऽभिमर्शनमित्यभिधानं भवति। कतमत् तदभिधानम्? यद् गुणोऽभिमर्शनमिति ब्रूते। पौर्णमासीममावास्यामिति च द्वितीयान्तं पौर्णमास्यर्थमभिमर्शनं कर्त्तव्यम्, अमावास्यार्थमभिमशनं कर्त्तव्यमिति। अतो यत्र यत्र क्रियमाणं पौर्णमास्याममावास्यायां वोपकरोति, तत्र तत्र कर्त्तव्यम्। यद् यत् पौर्णमास्याममावास्यायां वाभिसम्बध्यते, साक्षात् प्रणाड्या वा, तत्र तत्र क्रियमाणं तयोरुपकरोति। तस्मात् प्रधानहविषामङ्ग-हविषां च कर्त्तव्यमिति ॥१०॥ **अभिमर्शनस्याङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम् ॥४॥**

—:०:—

[दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताधिकरणम् ॥५॥]

ज्योतिष्टोमे दीक्षाः श्रूयन्ते—**तिस्रो दीक्षा**[1] इति। तथा **दक्षिणाः श्रूयन्ते—तस्य द्वादशशतं दक्षिणा**[2] इति। तत्र सन्देहः—किं दीक्षादक्षिणमङ्गप्रधानार्थमुत प्रधानानामिति? किं प्राप्तम्? पुरुषाणामङ्गप्रधानार्थत्वाद्दीक्षादक्षिणस्याङ्गप्रधानार्थतेति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

कौन सा है? जो गुण अभिमर्शन को कहता है। 'पौर्णमासीम्' और 'अमावास्याम्' ये द्वितीयान्त हैं। पौर्णमासी के लिये अभिमर्शन करना चाहिये, अमावास्या के लिये अभिमर्शन करना चाहिये। इसलिये जहां-जहां किया हुआ अभिमर्शन पौर्णमासी में और अमावास्या में उपकार करता है वहां-वहां करना चाहिये। जो-जो पौर्णमासी और अमावास्या में साक्षात् अथवा प्रनाड़ी (=परम्परा) से सम्बद्ध होता है वहां-वहां किया गया अभिमर्शन उनका उपकार करता है [अर्थात् उपकारक होता है]। इस कारण प्रधान हवियों का अभिमर्शन करना चाहिये ॥१०॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में दीक्षाएं सुनी जाती हैं—तिस्रो दीक्षाः (**=तीन दीक्षाएं होती हैं**)। **तथा दक्षिणाएं सुनी जाती हैं**—तस्य द्वादशशतं दक्षिणाः (**=उस अग्निष्टोम को ११२ गौवें दक्षिणा होती हैं**)। उन में सन्देह होता **है—क्या दीक्षा और दक्षिणा अङ्ग और प्रधान कर्म के लिये हैं अथवा प्रधान कर्मों की हैं? क्या प्राप्त होता है? पुरुषों (=ऋत्विजों) के अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों के लिये होने से दीक्षा और दक्षिणा अङ्ग और प्रधान कर्म के लिये हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण—तिस्रो दीक्षाः—वाससा दीक्षयति दण्डेन दीक्षयति मेखलया दीक्षयति—वासः =वस्त्र से, दण्ड से तथा मेखला से दीक्षित करता है। **तस्य द्वादशशतं दक्षिणाः—द्वादशशतं= द्वादशाधिकं शतम्। गवां संख्या भवतीति वचनाद** गावः (द्र० आप० श्रौत १३।५।१, रुद्रदत्तीय टीका)। अर्थात् एक सौ बारह गायें।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. ताण्ड्य ब्रा० १६।१।११॥ आप० श्रौत १३।५।१॥

दीक्षादक्षिणं तु वचनात् प्रधानस्य ॥११॥ (उ०)

दीक्षादक्षिणं प्रधानस्य। कुतः। वचनात्। वचनं हि भवति— **दीक्षाः सोमस्य,[1] दक्षिणाः सोमस्य'** इति। न हि वचनस्यातिभारो नाम क्वचित्। तस्माद्दीक्षादक्षिणं वचनात् सोमस्येति ॥११॥

निवृत्तिदर्शनाच्च ॥१२॥ (उ०)

निवृत्तिं दीक्षाणां दर्शयति। कथम्? **अध्वर्यो यत् पशुना अयाक्षीरथ कास्य दीक्षेति, यत् षड्ढोतारं जुहोति सास्य दीक्षा[2]** इति। असत्यामपि दीक्षायां वचनं भवति। तस्माद् अङ्गानां दीक्षादक्षिणमिति ॥१२॥ **दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताधिकरणम् ॥५॥**

—:o:—

दीक्षादक्षिण तु वचनात् प्रधानस्य ॥११॥

सूत्रार्थः—(दीक्षादक्षिणम्) दीक्षा और दक्षिणा (तु) तो (वचनात्) वचन सामर्थ्य से (प्रधानस्य) प्रधान की हैं।

विशेष—दीक्षादक्षिणम्—दीक्षा च दक्षिणा च दीक्षादक्षिणम् समाहार द्वन्द्व नपुंसक लिङ्ग और एकवचनान्त प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—**दीक्षा और दक्षिणा** प्रधान की हैं। किस हेतु से? वचन से। **वचन होता है—दीक्षाः** सोमस्य दक्षिणाः सोमस्य (=**दीक्षा और दक्षिणा सोम की हैं**)। **वचन को कहीं अतिभार नहीं है [अर्थात् वचन सब कुछ** कह सकता है]। इसलिये **दीक्षा और** दक्षिणा **सोम की हैं।**

निवृत्तिदर्शनाच्च ॥१२॥

सूत्रार्थः—दीक्षाओं की (निवृत्तिदर्शनात्) निवृत्ति का दर्शन होने से (च) भी प्रधान की दीक्षा और दक्षिणा हैं।

व्याख्या—**दीक्षाओं की** निवृत्ति दर्शाती है [कि दीक्षा प्रधान की है]। कैसे? अध्वर्यो यत्पशुना अयाक्षीरथकास्य दीक्षति। यत् षड्ढोतारं जुहोति साऽस्य दीक्षा (=**हे अध्वर्यो जो पशु से यजन किया इस की क्या दीक्षा है? जो षड्ढोता को आहुति देता है वह इसकी दीक्षा है)। दीक्षा न होने पर भी दीक्षा वचन होता है। इस कारण अङ्गों की दीक्षा दक्षिणा नहीं है।**

---

१. अनुपलब्धमूलम् ॥

२. अनुपलब्धमूलम्। अत्र शतपथस्य ११।७।२।६ वचनमप्यनुसंधेयम्।

[अन्तर्वेद्यूपानङ्गताधिकरणम् ॥६॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते**[1] इति। तत्र यूपं प्रकृत्य श्रूयते,—**वज्रो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनुयात् तन्निर्दहेत्, यद् बहिर्वेद्यन-वरुद्धः स्यादर्द्धमन्तर्वेदि मिनोति अर्द्धं बहिर्वेदि अवरुद्धो [ह] भवति, न निर्दहति**[2] इति। तत्र सन्देहः—किमन्तर्वेदि इति यूपाङ्गभावेन वेदिरुपदिश्यते उत अर्द्धम् अन्तर्वेदि अर्द्धं बहिर्वेदीति देशलक्षणार्थम् उच्यते इति? कथं यूपाऽङ्गभावेन कथं वा देशलक्षणेति? यदि यूपार्द्धस्य वेद्यन्तरस्य च सम्बन्धो विवक्षितः, एवं वेदिसम्बद्धो यूपः कर्त्तव्यः, ततो यूपाङ्गभावेन। अथ यस्मिन् देशे मीयमानस्यार्द्धं वेद्यभ्यन्तरे, अर्द्धं च बहिः, स देश उपदिश्यते। ततो देशलक्षणा। किं प्राप्तम्—

विवरण—**अध्वर्यो यत्पशुना**—शतपथ ११।७।२ ब्राह्मण के तथा कुतुहलवृत्तिकार के लेखानुसार यह निरूढ पशुबन्ध प्रकरण का है। निरूढ पशुबन्ध की प्रकृति अग्नीषोमीय पशु है। यदि दीक्षा अङ्गप्रधान सभी की होवे तो अग्नीषोमीय पशु की दीक्षा होने पर अतिदेशवचन से निरूढ पशु में भी प्राप्त होवे। उस अवस्था में उक्त वचन से जो दीक्षा का अभाव दर्शाया है वह उपपन्न नहीं होगा। षड्ढोता के होम का मन्त्र है—**सूर्यं ते चक्षुः वातं प्राणः** (तै०आ०३।३।४)॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में **अग्नीषोमीय पशु** है—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशु-मालभते (=**जो दीक्षित जिस अग्नीषोमीय पशु का आलभन करता है**)। वहां (**अग्नीषोमीय पशु प्रकरण में**) **यूप को प्रकृत करके सुना जाता है**—वज्रो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनुयात् तन्निर्दहेत्, यद् बहिर्वेद्यनवरुद्धः स्याद, अर्धमन्तर्वेदि मिनोति अर्धं बहिर्वेदि अवरुद्धो[ह] भवति (=**यूप वज्र है। जो इसका वेदि के भीतर मान करें=खड़ा करें तो वह जला देवे और यदि वेदि के बाहर मान करें तो अवरुद्ध न होवे। इसलिये इसे आधा वेदि के भीतर और आधा बाहर मान करते हैं। यह अवरुद्ध होता है**)। **इस में सन्देह है—क्या अन्तर्वेदि में यूप के अङ्गभाव से वेदि कही जाती है अथवा अर्धमन्तर्वेदि अर्धंबहिर्वेदि यह देश को लक्षित करने के लिये कहा जाता है? यूप के अङ्गभाव से कैसे कथन होगा अथवा कैसे देश को लक्षित करेगा? यदि यूप के अर्ध और वेद्यन्तर का संबन्ध विवक्षित होवे अर्थात् इस प्रकार वेदि से संबन्ध यूप को करना चाहिये [जिससे यूप का आधा भाग वेदि के भीतर होवे और आधा बाहर]। तब तो यूप के अङ्गभाव से कथन होगा। और यदि जिस देश में मीयमान (=खड़े किये जाते हुए) यूप का आधा भाग वेदि के भीतर और आधा बाहर होवे तो वह देश उपदिष्ट होता है। तब देश की लक्षणा होगी। क्या प्राप्त होता है?**

---

१. तै० सं० ६।१।११॥

२. मै० सं० ३।६।४॥

तथा यूपस्य वेदिः ॥१३॥ (पू०)

तथा यूपस्य वेदिः। यथा दीक्षादक्षिणं प्रधानस्य, तथा यूपस्य वेदिः। तथा यूपो मातव्यः, तथा मीयमानस्यार्द्धं वेद्यभ्यन्तरे भवति। एवं वेदिश्रुतिरप्यनुग्रहीष्यते, इतरथा वेदिशब्दो लक्षयेद् देशम्। श्रुतिलक्षणाविषये श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा। तस्माद् यूपाङ्गभावेन वेदिर्निर्दिश्यते ॥१३॥

देशमात्रं वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात् ॥१४॥ (उ०)

विवरण—यदन्तर्वेदि मिनुयात्—डुमिञ् प्रक्षेपणे। यूप के लिये गड्ढा खोदकर उस में यूप के मूल भाग को प्रक्षिप्त करके=डाल के यूप को खड़ा करना यहां विवक्षित है। **यूपाङ्गभावेन**=यूप को लक्षित करके अन्तर्वेदि कहा जाता है अर्थात् यूप के आधे भाग का वेद्यन्तर से सम्बन्ध होता है=वेदि के भीतर यूप इस प्रकार खड़ा करें जिस से वह आधा अन्दर होवे आधा बाहर, तब तो अन्तर्वेदि बहिर्वेदि का कथन यूप के अङ्गभाव से होगा। **देशलक्षणार्थम्**—यदि अन्तर्वेदि और बहिर्वेदि यूप के खड़े करने के स्थान को लक्षित करता है तो देश की लक्षणा के लिये कथन होगा। यूप को ऐसे स्थान पर खड़ा करो जिस से आधा वेदि के अन्दर होवे और आधा बाहर।

तथा यूपस्य वेदिः ॥१३॥

सूत्रार्थः—जैसे दीक्षा और दक्षिणा वचनसामर्थ्य से प्रधान के अङ्ग हैं (तथा) उसी प्रकार (वेदिः) महावेदि भी एकदेश द्वारा (यूपस्य) मीयमान यूप का अङ्ग है।

व्याख्या—वैसे ही यूप की वेदि अङ्ग है। जैसे दीक्षा और दक्षिणा प्रधान के अङ्ग हैं। यूप को उस प्रकार गड्ढे में रखना चाहिये (=खड़ा करना चाहिये) जिस प्रकार उसे खड़े किये जाते हुए यूप का आधा भाग वेदि के अन्दर होवे। इस प्रकार वेदि की श्रुति भी अनुगृहीत होगी अन्यथा वेदि शब्द [लक्षणा से] देश को लक्षित करेगा। श्रुति और लक्षणा के विषय में श्रुति न्याय्य है, लक्षणा न्याय्य नहीं है। इसलिये यूप के अङ्गभाव से वेदि का निर्देश किया जाता है॥१३॥

देशमात्रं वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'यूप के अङ्गभाव से वेदि का निर्देश किया जाता है' पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। (अशिष्येण) यूप का अङ्गभाव से वेदि का निर्देश करने पर जो शासन=कथन के योग्य नहीं है उस '**अर्धं बहिर्वेदि**' के साथ (एकवाक्यत्वात्) एक वाक्य होने से।

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने 'अशिष्येण' का अर्थ 'शिष्य=विधेयान्तर जिसका नहीं है वह अशिष्य रूप **अर्धं बहिर्वेदि** के साथ **अर्धमन्तर्वेदि** वचन मिलकर सन्धिदेश की विधि में एकवाक्य होने से' किया है।

सुबोधिनीवृत्ति में 'अशिष्येण' के स्थान में '**शिष्टेन**' पाठ है। उसके अनुसार अर्थ होगा—देशमात्र लक्षित होता है शिष्ट=पढ़े गये **अर्धं बहिर्वेदि** के साथ एकवाक्य होने से।

देशमात्रं वा वेदिशब्देन लक्ष्यते, न वेदियूपाङ्गम् । कुतः ? अशिष्येणैकवाक्यत्वात् । अर्द्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्द्धं बहिर्वेदि इत्येतेनैकवाक्यता या, सा शासितव्येन, यदि देशलक्षणा । अथ यूपाऽङ्गभावेन वेद्या निर्देशः, ततो न शासितव्यो बहिर्वेदिनिर्देशो भवति । वेद्यां यूपस्याङ्गभावेनोपदिश्यमानायाम्, अर्द्धं बहिर्वेदि इत्येतदुच्चार्यमाणं न कस्मिंश्चिदुपकारे वर्त्तते । अथ बहिर्वेदिदेशमपि यूपाऽङ्गभावेनोपदिशेद् वाक्यं भिद्येत । तस्माद् यूपाङ्गभावेन वेद्या निर्देशे बहिर्वेदिशब्दः सर्वथा न शासितव्यः । यदि तु देशलक्षणा, ततो विशिष्टे देशे लक्ष्यमाणेऽवश्यवक्तव्यो बहिर्वेदिशब्दो भवति । अनुच्यमाने वेद्यभ्यन्तरे यस्मिन् कस्मिंश्च प्रदेशे यूप इति गम्यते । अथ पुनर्बहिर्वेदिशब्दे श्रूयमाणे, यतरस्मिन् देशे मीयमानस्यार्द्धमन्तर्वेदि अर्द्धं बहिर्वेदि, स देशो लक्षयितुमिष्टो भवति । स च बहिर्वेदिशब्देन विना न शक्यते लक्षयितुमित्यवश्यं शासितव्यो भवति । तस्माद् देशलक्षणेति ॥१४॥ अन्तर्वेदेयूपानङ्गताधिकरणम् ॥६॥

—:o:—

व्याख्या—देशमात्र वेदि शब्द से लक्षित होता है । वेदि यूप का अङ्ग नहीं है । किस हेतु से ? [वेदि को यूपाङ्ग मानने पर] अशिष्य (=न कहने योग्य) के साथ एक वाक्य होने से । अर्धमन्तर्वेदि मिनोति अर्धं बहिर्वेदि इस के साथ जो एक वाक्यता है । वह शासितव्य (=कथन करने योग्य) वचन के साथ है, यदि देश की लक्षणा होवे । और यदि यूप के अङ्गभाव से वेदि का निर्देश होवे तो बहिर्वेदि निर्देश शासितव्य (=कथनीय) नहीं होता है वेदि के यूप के अङ्गभाव से उपदिश्यमान होने पर अर्धं बहिर्वेदि यह उच्चार्यमाण किसी उपकार में वर्तमान नहीं होता है, [अर्थात् निष्प्रयोजन होता है] । और यदि बहिर्वेदि देश को भी यूप के अङ्गभाव से उपदेश किया जाये तो वाक्यभेद होवे [अर्थात् 'यूप का अर्धभाग वेदि के अन्दर करना चाहिये और यूप का आधा भाग वेदि के बाहर करना चाहिये' इस प्रकार दो वाक्य होने से वाक्यभेद होगा] । इस लिये यूप के अङ्गभाव से वेदि का निर्देश है बहिर्वेदि शब्द सर्वथा नहीं कहने चाहिये । और यदि देश की लक्षण मानी जाये तब विशिष्ट देश के लक्ष्यमाण होने पर बहिर्वेदि शब्द अवश्य कहने योग्य होता है [अर्थात् अर्धमन्तर्वेदि और अर्धं बहिर्वेदि निर्देश से यूपमान का देश लक्षित करने के लिए अर्धं बहिर्वेदि अवश्य कहना पड़ेगा]। [अर्धं बहिर्वेदि] बिना कहे वेदि के भीतर जिस किसी प्रदेश में यूप होता है ऐसा जाना जाता है । और फिर बहिर्वेदि शब्द के सुने जाने पर जिस देश में खड़े किए जाने वाले यूप का आधा भाग वेदि के अन्दर और आधा वेदि के बाहर होवे वह देश लक्षित होता है । वह बहिर्वेदि शब्द के विना लक्षित नहीं कराया जा सकता । अतः वह अवश्य कहने योग्य होता है । इसलिये देश की लक्षणा जाननी चाहिये ।

—:o:—

[हविर्धानस्य सामिधेन्यनङ्गताधिकरणम् ॥७॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—उत यत् सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः'[1] इति। हविर्द्धानयोर्यस्मिन् हविर्द्धाने सुन्वन्ति, तत् सामिधेनीभिः सम्बन्धयेदित्यर्थः। तत्र सन्देहः—किं सामिधेनीनामङ्गभावेन हविर्द्धानं चोद्यते—हविर्द्धानविशिष्टाः सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः उत हविर्द्धानेनामूषामनूच्यमानानां देशो लक्ष्यते इति? किं तावत् प्राप्तम्?

सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्द्धानयोर्वचनात् सामिधेनीनाम् ॥१५॥ (पू०)

सामिधेनीनामङ्गत्वेन हविर्द्धानं चोद्यते। यस्मिन् हविर्द्धाने सुन्वन्ति, तत् सामिधेनीभिः सम्बन्धयेदिति। तेन हविर्द्धानसम्बद्धाः सामिधेन्योऽनुवक्तव्या इति वचनात्

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है=उत यत्र सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः (=और जहां सोम का अभिषव करते हैं, वहां सामिधेनियों को बोले)। जिन दो हविर्धान शकटों में से जिस हविर्धान शकट के नीचे सोम का अभिषव करते हैं, उसे सामिधेनियों से सम्बद्ध करें' यह अर्थ है। इसमें सन्देह होता है—क्या सामिधेनियों के अङ्गभाव से हविर्धान का कथन किया है, हविर्धान से विशिष्ट सामिधेनियों को कहना चाहिये अथवा हविर्धान से इन बोली जाती हुई सामिधेनियों का देश लक्षित होता है? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—ज्योतिष्टोम में हविर्धान संज्ञक मण्डप होता है। उस में दक्षिण और उत्तर में दो हविर्धान शकट (गाड़ी) होते हैं। उन में से दक्षिण हविर्धान में स्थित सोम को उसके नीचे लेकर अधिषवण फलकों पर अभिषव करते हैं। यत्सुन्वन्ति और तदन्वाहुः में यत् तत् सप्तम्यन्त हैं। छान्दस प्रयोग होने से अष्टा० ७।१।३९ से सुप् का लुक् है। प्र वो वाजा इत्यादि ऋचाएं सामिधेनी कहाती हैं। अन्वाहुः में बहुवचन अविवक्षित है। हविर्धान विशिष्टाः सामिधेन्यः—इस का तात्पर्य है जिस हविर्धान शकट के समीप=नीचे सोम का अभिषव करते हैं उस शकट से संबद्ध सामिधेनियों को पढ़ना चाहिये अर्थात् उस हविर्धान शकट पर बैठकर होता सामिधेनियों को बोले।

सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्धानयोर्वचनात् सामिधेनीनाम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—(हविर्धानयोः) हविर्धान शकटों में जिस दक्षिण शकट के नीचे सोम को कूटते हैं वह (सामिधेनीरन्वाहुः) यत्सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः (वचनात्) वचन से (सामिधेनीनामङ्गम्) सामिधेनियों का अङ्ग है। अर्थात् दक्षिण हविर्धान शकट पर बैठकर होता सामिधेनी बोले।

व्याख्या—सामिधेनियों के अङ्गभाव से हविर्धान शकट कहा जाता है। जिस हविर्धान के नीचे अभिषव करते हैं, उस शकट को सामिधेनियों से सम्बद्ध करे। इसलिये हविर्धान से सम्बद्ध

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

सामिधेन्यङ्गभावे सति हविर्द्धानश्रुतिरनुग्रहीष्यते, इतरथा देशं लक्षयेदिति। तस्मात् सामिधेन्यङ्गं हविर्द्धानम् ॥१५॥

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥१६॥

देशलक्षणार्थं वा एतदुच्यते। यस्मिन् सुन्वन्ति, तस्मिन् देशे सामिधेन्योऽनुवक्तव्या इति। प्रत्यक्षं हि अर्थकर्म सोमस्य तेन क्रियते—**दक्षिणे हविर्द्धाने सोममासादयति**[1] इति सोमासादनार्थं तावदेतदुपादेयम्। सामिधेन्योऽपि अग्निसमिन्धनार्थमुपादेया इति। इह त्वेतावच्छ्रूयते, यस्य हविर्द्धानस्य समीपे सुन्वन्ति तत्सम्बद्धाः सामिधेन्योऽपि अनुवक्तव्या[2] इति। तत्र न ज्ञायते किं सामिधेन्यः सम्बद्धाः हविर्धानस्योपकुर्वन्ति ?

सामिधेनियों का उच्चारण करना चाहिये। इस वचन से सामिधेनी का अङ्गभाव होने पर हविर्धान का श्रवण अनुगृहीत होगा, अन्यथा [हविर्धान] देश को लक्षित करेगा। इसलिये हविर्धान सामिधेनियों का अङ्ग है ॥१५॥

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥१६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वोक्त 'सामिधेनियों का अङ्गभूत हविर्धान है' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (देशमात्रम्) हविर्धानशकट रूप देशमात्र कहा जाता है। हविर्धान शकट (सोमस्य) सोम का (अर्थकर्म) प्रयोजनरूप कर्म (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष श्रुत है=**दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे पूर्ववत् कृष्णाजिनास्तरणं राज्ञश्चासादनम्** (आप० ११।१७।१) इस वचन के अनुसार हविर्धान के नीड़=बैठने[3] के स्थान में राजा=सोम का रखना रूप प्रयोजन है।

व्याख्या—देश की लक्षणा के लिए यह कहा जाता है जिस देश में सोम का अभिषव करते हैं, उस देश में सामिधेनियों का उच्चारण करना चाहिये। उस (=हविर्धान शकट) से प्रत्यक्ष ही सोम का प्रयोजन रूप कर्म किया जाता है—दक्षिणे हविर्धाने सोमामासदयति (दक्षिण हविर्धान में सोम को रखता है) इस से सोम रखने के लिए उस (=हविर्धान शकट का) उपादान करना चाहिये। सामिधेनियां भी अग्नि के समिन्धन के लिए उपादेय हैं। यहां तो इतना सुना जाता है—जिस हविर्धान के समीप अभिषव करते हैं, उन से सम्बद्ध सामिधेनियां भी उच्चारित करनी चाहिये। वहां, यह नहीं जाना जाता है कि क्या सामिधेनियां सम्बन्ध हुई

---

१. अनुपलब्धमूलम् दक्षिणस्य हनिर्धानस्य नीडे पूर्ववत् कृष्णाजिनास्तरणं राज्ञश्चासादनम्। आप० श्रौत० ११।१७।१०॥ एवमन्येष्वपि श्रौतसूत्रेषु।

२. अत्र 'सामिधेन्योऽपि अग्निसमिन्धनार्थमुपादेया इति' इति पाठान्तरं प्रकरणाननुकूलं दृश्यते मुद्रितग्रन्थेषु।

३. शकटे यदुपवेशनस्थानं तन्नीडपदवाच्यम्। द्र० श्रौतपदार्थनिर्वचन पृष्ठ २५६ संख्या २२०। कुतूहलवृत्तिकार ने नीड का व्याख्यान इस प्रकार किया है—गाड़ी के अक्ष दण्ड के ऊपर शकट का मध्य प्रदेश काष्ठफलक से आस्तृत नीड कहाता है।

किं हविर्धानं सामिधेनीनामिति ? तदुच्यते—सामिधेन्यस्तावद्धविर्द्धानस्य नोपकुर्वन्ति। न हि तावद् विधीयन्ते, सामिधेन्योऽनुवक्तव्या इति। किं तर्हि ? हविर्धानविशेषसम्बन्धस्तासां विधीयते। न चाविहितमङ्गं भवति। नाप्येवं विधीयते—हविर्द्धानमासामनुच्यमानानामुपादातव्यं सम्बन्धयितुमिति। कथं तर्हि ? हविर्धानविशेषसम्बन्धः सामिधेनीनां श्रूयते, न हविर्धानसम्बन्धो विधीयते। न च सामिधेनीसम्बन्धो हविर्द्धानस्य प्राप्तः, यो विशेषार्थमनूद्येत। केन तर्हि हविर्धानस्य सम्बन्धः ? प्रत्यक्षं हि अर्थकर्म सोमस्य, न तु सामिधेनीकर्म प्रत्यक्षं हविर्धानस्य। भवति तु देशस्य सामिधेनीसम्बन्धः। **अपरेण वेदिम्**[1] इति होतुर्देशो लक्षितः। स उत्तरस्य दक्षिणस्य वा हविर्द्धानस्य समासन्नः। तत्र यत् सुन्वन्ति, तदन्वाहुरित्युपपद्यते वचनम्। तस्माद् देशलक्षणार्थं हविर्धानग्रहणम्॥

हविर्धान का उपकार करती हैं ? अथवा क्या हविर्धान सामिधेनियों का उपकार करता है। इस विषय में कहते हैं—सामिधेनियां हविर्धान का उपकार नहीं करती हैं। उन का विधान नहीं है—सामिधेनियों का उच्चारण करना चाहिये। तो क्या विधान किया जाता है ? उनका हविर्धान के साथ विशेष संबन्ध का विधान किया जाता है। अविहित अङ्ग नहीं होता है। और ऐसा भी विधान नहीं किया जाता है कि इन का उच्चारण करते हुए संबन्ध के लिए हविर्धान का उपादान करना चाहिये। तो कैसे विधान किया जाता है ? हविर्धान का विशेष संबन्ध सामिधेनियों से सुना जाता है। हविर्धान के सम्बन्ध का विधान नहीं किया जाता है। सामिधेनियों का हविर्धान-संबन्ध प्राप्त नहीं है, जो [हविर्धान को] विशेषित करने के लिए अनूदित होवे तो हविर्धान का सम्बन्ध किस से है ? सोम का हविर्धान से [आसादन रूप] अर्थ कर्म प्रत्यक्ष है, सामिधेनियों का कर्म हविर्धान का प्रत्यक्ष नहीं है। देश का तो सामिधेनियों के साथ सम्बन्ध होता है। अपरेण वेदिम् (=वेदि के पश्चिम में होता का स्थान है) से होता का देश लक्षित होता है। वह उत्तर और दक्षिण हविर्धान शकट के समीप है। वहां यत्सुन्वन्ति तदन्वाहुः (=जहां अभिषव करते हैं, वहां सामिधेनियों को बोले) यह वचन उपपन्न होता है। इस लिए देश की लक्षणा के लिए हविर्धान का ग्रहण है।

विवरण—**हविर्धानविशेषसम्बन्धः—यत्सुन्वन्ति** (=जिस हविर्धान के नीचे अभिषव करते है) वचन से हविर्धानविशेष का सम्बन्ध किया जाता है। **अपरेण वेदिम्** - वेदि के अपर भाग अर्थात् पश्चिम में होता का स्थान कहा है। होता ही सामिधेनियों का उच्चारण करता है। **स उत्तरस्य दक्षिणस्य वा हविर्धानस्य**—उक्त वेदि का पश्चिम भाग जहां होता ने सामिधेनियों का पाठ करना होता है वह उत्तर दक्षिण हविर्धान शकट के समीप है। क्योंकि होतृस्थान के पश्चिम में ही दोनों हविर्धान शकट खड़े होते हैं। **तस्माद् देशलक्षणार्थम्**—इस कारण यत्सुन्वन्ति से अभिषव वाले दक्षिण हविर्धान का जो देश है वह लक्षित होता है। 'यत्' में जो सप्तमी का

---

१. कात्या० श्रौत ३।१।१॥

अथैवमभिसम्बन्धः कस्मान्न भवति। यस्मिन् हविर्धाने सुन्वन्ति, तस्य हविर्धानस्य सामिधेनीसम्बन्ध इति? नैवं शक्यम्। एवं द्वावर्थौ विधातव्यौ भवतः। हविर्धानसम्बन्धो, हविर्धानविशेषसम्बन्धश्च। तत्र वाक्यं भिद्यते। तस्मान्नैवमभिसम्बन्ध इति ॥१६॥

समाख्यानं च तद्वत् ॥१७॥ (उ०)

समाख्यानं च तद्वदेव भवति। यथाऽस्माभिर्न्याय उपदिष्टः सोमार्थं हविर्धानमिति ॥१७॥ **हविर्धानस्य सामिधेन्यऽनङ्गताधिकरणम् ॥७॥**

—:०:—

[अङ्गानामन्यद्वाराऽनुष्ठानाधिकरणम् ॥८॥

इह कर्माण्युदाहरणम्—**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**[1], **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो**

का लोप है, वह सप्तमी यहां सामीप्य को कहती है। जैसे—**कूपे गर्गकुलम्** (=कुएं के समीप में गर्गों का कुल है)। इससे दक्षिण हविर्धान के समीप में खड़ा होकर सामिधेनियों का उच्चारण करता है, यह तात्पर्य जानना चाहिये।

व्याख्या—**अच्छा तो ऐसा सम्बन्ध क्यों नहीं होता है—जिस हविर्धान के नीचे अभिषव करते हैं, उस हविर्धान का सामिधेनी के साथ सम्बन्ध होता है? ऐसा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सम्बन्ध करने पर दो अर्थ विधान करने योग्य होते हैं—एक हविर्धान का सम्बन्ध [सामिधेनियों के साथ] और दूसरा हविर्धानविशेष का सम्बन्ध [यस्मिन् सुन्वन्ति=जिस के नीचे अभिषव करते हैं, उस हविर्धानविशेष का सम्बन्ध]। ऐसा करने पर वाक्यभेद होवे। इस कारण ऐसा सम्बन्ध नहीं होता है।**

समाख्यानं च तद्वत् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(समाख्यानम्) हविर्धान शकट 'सोमरूप हवि जिस पर धरी जाती है' यह **अन्वर्थ नामकरण (च) भी (तद्वत्)** उसी प्रकार सोम के आधारत्व का बोधन कराता है, होता के आधारत्व=शकट पर बैठकर सामिधेनी मन्त्र पढ़ने का बोधन नहीं करता है।

व्याख्या **समाख्यान (=संज्ञा) भी उसी** प्रकार होती है। **जैसे हमने न्याय का कथन किया है—सोमार्थ हविर्धान है।**

—:०:—

व्याख्या—**यहां कर्म उदाहरण हैं**—अग्निहोत्रं जुहुयात् **स्वर्गकामः (=स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे)**, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=**स्वर्ग की कामनावाला**

---

१. **मैत्रा० आ०** ६।३७॥ विशेषरत्वत्र ५४४ पृष्ठे प्रथम टिप्पणियां द्रष्टव्यः।

यजेत[1], ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[2] इति । तत्र सन्देहः—किमेतानि कर्माणि स्वयमनुष्ठातव्यानि, उतात्रोत्सर्गमात्रं[3] स्वयं कुर्यात्, शेषमन्यः स्वयं वा, उत शेषमन्य एवेति ? किं प्राप्तम् ?

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥१८॥

स्वयं प्रयोगे स्यात् । कुतः? यतः स्वयं प्रयुञ्जानस्य फलं भवति । कथमवगम्यते? तल्लक्षणत्वात् । शब्दोऽस्यार्थस्य लक्षणं, स्वयं प्रयुञ्जानस्य फलं भवतीति । कतमः स शब्दः ? स्वर्गकामो यजेतेति । यः स्वर्गं कामयते, स एवोच्यते, यागे कर्त्ता भवन् फलं साधयेदिति । साङ्गं च कर्त्ता भवन् फलं प्राप्नोति । तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥१८॥

दर्शपूर्णमास से यजन करे), ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे । इन में सन्देह है – क्या ये कर्म स्वयं अनुष्ठान करने योग्य हैं, अथवा इन में उत्सर्गमात्र [ऋत्विजों का परिक्रयमात्र] स्वयं करे, शेष कर्म अन्य करे अथवा स्वय करे अथवा शेष कर्म अन्य ही करे ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—यहां तीन पक्ष उपस्थापित किये हैं – १ – सभी कर्म स्वयं करे, २ उत्सर्गमात्र स्वयं करे शेष कर्म अन्य वा स्वयं करे, ३ - शेष अन्य ही करे ।

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥१८॥

सूत्रार्थ—(शास्त्रफलम्) शास्त्र द्वारा उक्त स्वर्गादि फल (प्रयोक्तरि) प्रयोक्ता=यज्ञकर्ता के विषय में जाना जाता है (तल्लक्षणत्वात्) 'यजेत' में आत्मनेपद शब्द से लक्षित होने से। (तस्मात्) इसलिये (स्वयम्) स्वयं (प्रयोगे) कर्म के प्रयोग में कर्ता (स्यात्) होवे। अर्थात् 'यजेत' शब्द में आत्मनेपद के श्रवण से कर्म का फल कर्तृगामी जाना जाता है । इसलिये कर्म भी उसे स्वयं करना चाहिये ।

व्याख्या—कर्म के प्रयोग में स्वयं कर्त्ता होवे अर्थात् यजमान सम्पूर्ण कर्म स्वयं करे । किस हेतु से ? जिस कारण स्वयं प्रयोग करनेवाले का स्वर्गादिफल होता है । कैसे जाना जाता है? तल्लक्षण (=शब्दलक्षण) होने से । शब्द इस अर्थ को लक्षित करने वाला है—स्वयं प्रयोग करनेवाले को फल होता है । वह कौन सा शब्द है ? स्वर्गकामो यजेत – जो स्वर्ग की कामना करता है वही कहा जाता है । याग में कर्त्ता होते हुए फल को सिद्ध करे । अङ्ग सहित सम्पूर्ण कर्म में कर्ता होता हुआ फल को प्राप्त होता है । इसलिये प्रयोग में स्वयं कर्त्ता होवे ॥१८॥

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०–स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ । आप० श्रौत ३।१४॥

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०–स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत । आप० श्रौत १०।२।१॥

३. उत्सर्गः दक्षिणादिना परिक्रयः । द्र०-मी० भा० ३।७।१६॥

उत्सर्गे तु प्रधानत्वात् शेषकारी प्रधानस्य, तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् ॥ १९ ॥ (पू०)

उत्सर्गे प्राधान्यमस्ति। कथम्? य उत्सर्गं करोति तेन सर्वं कृतं भवति। कथम्? परिक्रय उत्सर्गः। तेन आनताः सर्वं कुर्वन्ति। तस्माद् यः परिक्रयं करोति तेन स्वयमेव सर्वं कृतं भवति। तस्मादुत्सर्गमात्रं स्वयं कुर्यात्। शेषमन्यः स्वयं वा ॥१९॥

अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानाद् विप्रतिषेधात् प्रत्यगात्मनि ॥२०॥ (उ०)

शेषस्यान्य एव स्यात् कर्त्ता। कुतः? परिक्रयस्याम्नानत्वात्। पुरुषानतिप्रका-

---

उत्सर्गे तु प्रधानत्वात् शेषकारी प्रधानस्य, तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द 'साङ्गकर्म स्वयं करे' इस पक्ष की निवृत्ति के लिये है। यजमान का (उत्सर्गे) उत्सर्ग=ऋत्विजों का दक्षिणादि से परिक्रय में (प्रधानत्वात्) प्राधान्य होने से (शेषकारी) शेष कर्म को करनेवाला (प्रधानस्य) प्रधान=परिक्रय करनेवाले का होता है। (तस्मात्) इसलिये (अन्यः) अन्य परिक्रीत ऋत्विक् आदि (वा) अथवा (स्वयं) स्वयं यजमान याग का कर्ता शेष कर्मों का करनेवाला (स्यात्) होवे।

इस का तात्पर्य यह है कि यजमान दक्षिणा आदि के द्वारा ऋत्विजों का परिक्रय करके ऋत्विजों से कर्म करावे अथवा स्वयं करे।

व्याख्या—[दक्षिणा आदि के द्वारा ऋत्विजों के] परिक्रय (=खरीदने=कार्य करने के लिये अनुकूल बनाने) में यजमान का प्राधान्य है। कैसे? जो उत्सर्ग=परिक्रय करता है, उसके द्वारा सब काम किया हुआ होता है [अर्थात् जो परिक्रय द्वारा भृत्यादि से कर्म कराता है, परिक्रीत से किया गया सब कर्म उसका होता है]। कैसे? परिक्रय उत्सर्ग है [अर्थात् परिक्रय के लिये धन का त्याग करना होता है]। उस उत्सर्ग (=धन के त्याग=धन देने) से अनुकूल हुए सब कार्य करते हैं। इसलिये जो परिक्रय करता है उस से ही सब कर्म किया हुआ होता है। इसलिये उत्सर्गमात्र स्वयं करे। शेष कर्म अन्य करें वा यजमान स्वयं करे ॥१९॥

अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानाद् विप्रतिषेधात् प्रत्यगात्मनि ॥२०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'परिक्रय स्वयं करे शेष कर्म अन्य करे वा स्वयं करे' पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। शेष कर्म करनेवाला (अन्यः) अन्य होवे। (परिक्रयाम्नात्) परिक्रय का कथन होने से। (प्रत्यगात्मनि) अपने आप में परिक्रय का (विप्रतिषेधात्) विरोध होने से। अर्थात् अपने आप का परिक्रय न हो सकने से परिक्रय करके भी स्वयं करे यह उपपन्न नहीं होता है।

भाष्यकार के मत में 'वा' शब्द 'एव' के अर्थ में है। 'अन्य ही कर्त्ता होवे' ऐसा सूत्रार्थ जानना चाहिये [द्र० अगला भाष्यव्याख्यान]।

व्याख्या—अन्य ही परिक्रय से शेष कर्म का कर्त्ता होवे। किस हेतु से? परिक्रय का कथन

रेषु बहुषु प्राप्तेषु परिक्रयो नियतः। तस्मात् परिक्रयेणानतैः सर्वे पदार्थाः कर्त्तव्या इति। विप्रतिषिद्धश्चात्मनि परिक्रयः। यदि स्वयं कुर्य्याद् अपरिक्रीतेन कृतं स्यात्। तत्र परिक्रयाम्नानानर्थक्यम्, अदृष्टार्थो वा प्रतिज्ञायेत। तस्मादन्यैः परिक्रीतैः शेषाः पदार्थाः कर्त्तव्या इति। उत्सर्गं तु स्वयं कुर्वता सर्वं स्वयं कृतं भवति ॥२०॥ अङ्गानामन्यद्वाराऽनुष्ठानाधिकरणम् ॥८॥

—:०:—

[परिक्रीतानामृत्विजां संख्याविशेषनियमाधिकरणम् ॥९॥]

तत्रार्थात् कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥ २१ ॥ (पू०)

होने से। पुरुषों को कर्म कराने के लिये अनुकूल करने के अनेक उपायों के प्राप्त होने पर परिक्रय नियत है। इसलिये परिक्रय से आनत किये गये लोगों से सब कर्म किये जाने चाहियें। और अपने आप में परिक्रय विरुद्ध भी है [अर्थात् अपने आप का धनादि से परिक्रय नहीं हो सकता है]। इस कारण यदि स्वयं करेगा तो अपरिक्रीत से किया हुआ होगा। वहां परिक्रय का कथन अनर्थक होगा अथवा अदृष्टार्थ [अपना परिक्रय] माना जायेगा। इसलिये अन्य परिक्रीत ऋत्विजों को शेष कर्म करने चाहियें। स्वयं उत्सर्ग करते हुए सब कर्म स्वयं किया हुआ होता है।

विवरण—परिक्रयाम्नानात्—किस यज्ञ की कितनी दक्षिणा परिक्रय के लिये होती है, उस सब का शास्त्रों में कथन किया है। अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास यावज्जीवन कर्त्तव्य कर्म कहे गये है (द्र० मी० भाष्य २।४।१ में उद्धृत वचन)। इन में अग्निहोत्र में परिक्रय नहीं है। इसे स्वयं करना होता है, स्वयं के अभाव में पत्नी वा शिष्य इस कर्म को करता है। दर्शपूर्णमास में ऋत्विजों को पूर्ण भोजन कराना मात्र परिक्रय कहा है—**अन्वाहार्यं दक्षिणा**। शेष कर्मों की भी दक्षिणा नियत है। उस दक्षिणा को देने में जो समर्थ होवे वह उन कर्मों को करने का अधिकारी होता है। सोम आदि याग बहु द्रव्य साध्य हैं। इन के लिए दान द्वारा द्रव्य पूर्ति का भी निर्देश मिलता है। अथवा १७ व्यक्ति मिलकर परस्पर में कर्म का विभाग करके सोम याग सम्पन्न करते हैं। इन में दक्षिणा देय नहीं होती है। सभी कार्यकर्त्ता यजमान भी होते हैं, और ऋत्विग् भी। शास्त्रीय परिभाषा में इस प्रकार के कर्म को **सत्र** कहा जाता है, (द्र० मी० भाष्य भाग १, पृष्ठ ९४ की टि० २)। **उत्सर्गं तु स्वयं कुर्वता**—संस्कृत भाषा में **यः कारयति स करोति** (=जो कार्य कराता है, वह स्वयं करता है) न्याय है। लोक में भी ऐसा ही व्यवहार होता है—**देवदत्तः षड्भिर्हलैः कर्षति**=देवदत्त छ हलों से खेती करता है। एक देवदत्त तो छ हलों से स्वयं खेती कर नहीं सकता अतः इसका भाव होता है—देवदत्त छः हलों से खेती कराता है ॥२०॥

—:०:—

तत्रार्थात् कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(तत्र) वहां=ऋत्विजों के परिक्रय के विषय में (अर्थात्) प्रयोजनवश=

तत्र तैः परिक्रीतैः कर्त्तव्येष्वनियमेन कर्त्तृपरिमाणं स्यात्। कुतः? अविशेषात्। न कर्त्तृपरिमाणे विशेषः कश्चिदाम्नायते। अर्थेन तत्परिमाणं यावद्भिरसावितिकर्त्तव्यता निर्वर्त्तते, तावतो वृणीते ॥२१॥

अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥२२॥ (उ०)

यावन्ति कर्त्तृनामधेयानि कर्म्माणि श्रूयन्ते, तावन्तो वरीतव्या भिद्यन्ते। तानि च नामधेयश्रवणानि—तान् पुरोऽध्वर्युर्विभजति—प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं जुहोति, नेष्टा पत्नीमभ्युदानयति, उन्नेता चमसानुन्नयति[1] इति। तथा प्रस्तोता प्रस्तौति, उद्गाता उद्गायति, प्रतिहर्त्ता प्रतिहरति, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यामाह, होता प्रातरनुवाकमनुब्रूते, मैत्रावरुणः प्रेष्यति चान्नु चाह,

---

जितने व्यक्तियों की कार्य के लिये आवश्यकता हो, (कर्तृपरिमाणम्) कार्य करने वालों की संख्या (स्यात्) होवे। (अविशेषात्) विशेष न कहने से (अनियमः) अनियम जानना चाहिये।

व्याख्या—वहां परिक्रीत ऋत्विजों से किये जाने योग्य कर्मों में कर्त्ता (परिक्रीत ऋत्विजों) की संख्या अनियम से होवे। किस हेतु से? अविशेष होने से कर्त्ता के परिमाण के विषय में विशेष कुछ नहीं कहा है। प्रयोजन से परिमाण जानना चाहिये। जितने कर्त्ताओं से वह इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होवे उतनों का वरण करे ॥२१॥

अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥२२॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) यह पदद्वय पूर्व पक्ष 'प्रयोजनानुसार ऋत्विजों का करण करे' की निवृत्ति के लिये है। (श्रुतिभेदात्) श्रुति के भेद से (प्रतिनामधेयम्) प्रत्येक नाम के अनुसार ऋत्विजों का परिमाण होवे। अर्थात् जितने ऋत्विजों के नाम का श्रुति में निर्देश है, उतने होवें।

व्याख्या—जितने कर्त्ता के नाम वाले कर्म सुने जाते हैं, उतने वरणयोग्य भिन्नता को प्राप्त होते हैं। उन नामों का श्रवण होता है—तान् पुरोऽध्वर्युर्विभजति—प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं जुहोति, नेष्टा पत्नीमभ्युदानयति, उन्नेता चमसानुन्नयति (=उन का अध्वर्यु पहले विभाग करता है—प्रतिप्रस्थाता मन्थी ग्रह का होम करता है, नेष्टा पत्नी को योक्त्र बांधता है, उन्नेता चमसों को सोम रस से पूरित करता है)। तथा प्रस्तोता प्रस्तौति, उद्गाता उद्गायति, प्रतिहर्त्ता प्रतिहरति, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यामाह (=प्रस्तोता ऋत्विक् साम के प्रस्ताव संज्ञक प्रथम भक्ति[2] का उच्चारण करता है, उद्गाता उद्गीथ संज्ञक द्वितीय भक्ति का उच्चारण करता है, प्रतिहर्त्ता प्रतिहार संज्ञक तीसरी भक्ति का उच्चारण करता है, सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्य निगद का पाठ करता है)। होता प्रातरनुवाकमनुब्रूते, मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह,

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. साम की पांच भक्तियां होती हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। द्र०—पूर्व पृष्ठ ९७२।

अच्छावाको यजति, ग्रावस्तुद् ग्रावस्तोत्रीयामन्वाह[1]। एतावद्भिः कर्म्मणि प्रयोजनम्। तेन तेऽवश्यमेतानि यथाश्रुतानि कर्त्तुं वरीतव्याः। एतद्व्यतिरिक्तोऽन्यः पदार्थो न विद्यते। योऽपि वाक्येन नोपदिष्टः, स समाख्यया गम्यते। तस्मादेतावतो वृणीत इति ॥२२॥

अच्छावाको यजति, ग्रावस्तुत् ग्रावस्तोत्रीयामन्वाह (=होता प्रातरनुवाक का पाठ करता है, मैत्रावरुण प्रैष देता है और अनुकथन करता है[2], अच्छावाक यजन करता है, ग्रावस्तुत् ग्रावस्तोत्रीया ऋक् का पाठ करता है)। इतने (=१२) ऋत्विजों से कर्म में प्रयोजन है। ये इन यथाश्रुत कर्मों को करने के लिये वरण करने चाहियें। इन से व्यतिरिक्त अन्य पदार्थ नहीं है। जो कर्म वाक्य से उपदिष्ट नहीं है, वह समाख्या (=ऋत्विक् की संज्ञा) से जाना जाता है। इसलिये इतने ऋत्विजों का वरण करता है।

विवरण—एतावद्भिः कर्मणि प्रयोजनम्—ऊपर जिन जिन कर्मों के करनेवाले ऋत्विजों का उल्लेख किया है, उन में यथाक्रम अध्वर्यु उद्गाता और होता तथा उनके तीन सहयोगियों का उल्लेख है। ब्रह्मा और उस के सहयोगी ३ ऋत्विजों का उल्लेख नहीं है। इनके क्रम और नाम इस प्रकार जानने चाहियें—

	अध्वर्युगण	होतृगण	उद्गातृगण	ब्रह्मगण
	अध्वर्यु	होता	उद्गाता	ब्रह्मा
अर्धिनः	प्रतिप्रस्थाता	मैत्रावरुण	प्रस्तोता	ब्राह्मणाच्छंसी
तृतीयिनः	नेष्टा	अच्छावाक	प्रतिहर्ता	अग्नीत्(आग्नीध्र)
पादिनः	उन्नेता	ग्रावस्तुत्	सुब्रह्मण्य	पोता

इन चारों गणों में दूसरी संख्यावाले ऋत्विजों की **अर्धिन्**,तीसरी संख्या वालों की **तृतीयिन्** और चतुर्थ संख्यावालों की **पादिन्** संज्ञा है। यह संज्ञा दक्षिणा के भेद से है। यदि अग्निष्टोम की १००० एक सहस्र रुपया दक्षिणा हो तो उनका विभाग इस प्रकार जानना चाहिये—१००० एक सहस्र रुपयों को पहले चार भागों में बांटने पर प्रत्येक गण के हिस्से में २५० रुपये आते हैं। फिर उनका अपने-अपने गण के ऋत्विजों में बंटवारा होता है। प्रत्येक गण के प्रमुख अध्वर्यु होता उद्गाता और ब्रह्मा को १२०–१२० रुपये; तदनन्तर प्रत्येक गण के द्वितीय ऋत्विक् की **अर्धिन्** संज्ञा होने से ६०–६० रुपये; तत्पश्चात् प्रत्येक गण के तृतीय ऋत्विक् की **तृतीयिन्** संज्ञा होने से १२० का तीसरा भाग ४०–४०; रुपये प्रत्येक गण के शेष रहे चतुर्थ ऋत्विक् की **पादिन्** संज्ञा होने से १२० का चतुर्थांश ३०–३० रुपये दक्षिणा जाननी चाहिये। द्र०—मीमांसा भाष्य अ० १०, पा० ३, अधि० १४ (सूत्र ५३–५५) का **ज्योतिष्टोमे समाख्यानुसारेण दक्षिणाविभागाधकरणम्**। इन ऋत्विजों में से कर्म के मध्य किसी ऋत्विक् की अपमृत्यु हो जाने पर अन्य को वरण किया जाता है। उसको तथा मृत ऋत्विक् के उत्तराधिकारी को उसके द्वारा क्रियमाण कर्म के अनुसार दक्षिणा का विधान धर्मशास्त्रों में किया है ॥२२॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अन्वाह=पुरोऽनुवाक्या पढ़ना।

एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०)

एवं चेत् प्रतिज्ञायते, एतावतो वृणीत इति। तन्न। यो यस्तत्कर्म्म करिष्यतीति सङ्कल्पते, स स तत्तच्छब्दाभिधेयो भवति। एकोऽपि बहून् पदार्थान् कर्त्तुं बहुभिर्नामधेयैरुच्येत। तस्मादनियमः ॥२३॥

नोत्पत्तौ हि पुरुषणाम्[1] ॥२४॥ (आ० नि०)

नैतदेवम्, उत्पत्तौ पुरुषाणाम्। उत्पाद्यमानेषु पुरुषेषु नामधेयानि भिद्यन्ते—ब्रह्माणं वृणीते, होतारं वृणीते, उद्गातारं वृणीते, अध्वर्युं वृणीते[2] इत्येवमादि। तस्मात् कर्म्मणि तैरेवन्नामकैः प्रयोजनम्। अवश्यं ते वरीतव्याः। तस्माद् एषां वरणे सङ्कीर्तनं न विधिः। प्रयोजनस्याभावान्नानुवादः। न वेदे तावन्तो वरीतव्या इति ब्रूयात्। अनर्थकमेव

एकस्य कर्मभेदाद् इति चेत् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(एकस्य) एक पुरुष के ही (कर्मभेदात्) क्रियमाण कर्म के भेद से तत् तत् संज्ञाएं हों (इति चेत्) ऐसा माना जाये तो।

व्याख्या—यदि ऐसी प्रतिज्ञा करते हो कि 'इतने ऋत्विजों का वरण करता है' तो यह ठीक नहीं है। जो जो 'उस कर्म को करेगा' ऐसा संकल्प करता है, वह-वह उस शब्द का वाच्य होगा। एक पुरुष भी बहुत पदार्थों को करने के लिये बहुत नामों से कहा जाता है। इस कारण संख्या का अनियम है ॥२३॥

नोत्पत्तौ हि पुरुषाणाम् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है कि एक ही व्यक्ति का कर्मभेद से संज्ञाभेद होगा। (पुरुषाणाम्) पुरुषों के (उत्पत्तौ) उत्पत्तिविधायक वाक्य में (हि) ही नामधेयों का भेद होता है।

विशेष—सूत्र में पुरुषाणाम्' पद क्वचित् उपलब्ध होता है। भाष्य में '**नैतदेवम्, उत्पत्तौ पुरुषाणाम्**' पाठ होने से 'पुरुषाणाम्' पद को भाष्यकार द्वारा आदृत मानकर सूत्र में पढ़ा है।

व्याख्या—ऐसा नहीं है पुरुषों का उत्पत्ति में [पृथक् नामधेयों का श्रवण होने से]। उत्पाद्यमान (=वरण के द्वारा सम्पाद्यमान) पुरुषों में नामधेय पृथक्-पृथक् होते हैं। ब्रह्माणं वृणीते (=ब्रह्मा का वरण करता है), होतारं वृणीते (=होता का वरण करता है), उद्गातारं वृणीते (=उद्गाता का वरण करता है), अध्वर्युं वृणीते (अध्वर्यु का वरण करता है) इत्यादि। इसलिये कर्म में इन नामवालों से ही प्रयोजन है। उनका वरण अवश्य करना चाहिये। इसलिये इनके वरण में निर्देश करना न विधि है और ना ही प्रयोजन का अभाव होने से अनुवाद है। ऐसी

---

१. अयं क्वाचित्कः पाठः सन्नपि भाष्ये निर्देशाद् इहास्माभिः संगृहीतः।

२. अनुपलब्धमूलम्।

स्यात् । शक्नोति चेदं प्रत्याययितुं सङ्ख्याविशेषम् । तस्माद् यः सङ्ख्याविशेष एषां प्रतीयते, तदर्थमेतद्वचनम् । तस्मात् षोडश कर्त्तारो वरीतव्याः, सोमस्तावत्कर्तृकश्च स्यात् । एवं दर्शपूर्णमासयोरपि ॥२४॥ **परिक्रीतानाम् ऋत्विजां संख्याविशेषनियमाधिकरणम्** ॥९॥

—:०:—

[चमसाध्वर्यूणां पृथक्त्वाधिकरणम् ॥१०॥]

सन्ति ज्योतिष्टोमे चमसाध्वर्यवः— **चमसाध्वर्यून् वृणीते**[1] इति । तेषु सन्देहः— किमेषामन्यतमाः, उतैतेभ्योऽन्ये इति ? किं तावत् प्राप्तम् ? एतावतां संकीर्तनादेषामेवान्यतमा इति प्राप्ते ब्रूमः—

अवस्था में वेद में 'इतने ऋत्विजों का वरण करे' ऐसा न कहा जाये, अनर्थक हीं होवे । वह संख्या विशेष का बोध कराने में समर्थ है । इस कारण इन की जो **संख्याविशेष प्रतीत होती है उसको कहने के** लिये यह **वचन** है । **इस लिये सोलह** कर्ताओं **का वरण करना चाहिये और सोम याग उतने कर्ताओं वाला होवे । इसी प्रकार दर्शपूर्णमास आदि में भी जानना चाहिये ।**

विशेष—एषां वरणे संकीर्तनं न विधिः—इस का तात्पर्य है कि वरण विधि में ब्रह्मा आदि के संकीर्तन में विधि नहीं है अर्थात् 'वरण से ब्रह्मा आदि को उत्पन्न करे' यह विधि नहीं है । क्योंकि जैसे **यूपं छिनत्ति** में छेदने से पूर्व अविद्यमान यूप की निष्पत्ति कही जाती है अथवा **तण्डुलान् पिनष्टि** में पेषण के द्वारा तण्डुलों का अपूर्व विद्यमान चूर्णत्व निष्पन्न किया जाता है, ऐसा यहां अपूर्व ब्रह्मा नामधारी पुरुष का उत्पादन वरण से अभिप्रेत नहीं है । **नामवादः**—ब्रह्मा आदि का अनुवाद करके वरण विधि प्रवृत्त होती है यह भी नहीं है, प्रयोजन न होने से । यहां भी ध्यान रखना चाहिये कि अनुवाद सदा उसी का होता है जो अन्यतः प्राप्त हो । इस प्रकार विधि और अनुवाद दोनों के न होने पर वेद में ब्रह्मा आदि का श्रवण अनर्थक होता हुआ संख्याविशेष का प्रतिपादक है । तन्त्रवार्तिक में भट्ट कुमारिल ने भाष्यकार के **तस्माद् एषां वरणे संकीर्तनं न विधिः** आदि ग्रन्थ का खण्डन किया है, उसे उन्हीं के ग्रन्थ में देखें । हमारे विचार में भट्ट कुमारिल का खण्डन युक्त नहीं है । हमने भाष्यकार के वचन की जो ऊपर व्याख्या की है उस के अनुसार भाष्यकार का कथन सर्वथा युक्त है ॥ २४ ॥

—:०:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में चमसाध्वर्यु हैं ।** चमसाध्वर्यून् वृणीते (=**चमसाध्वर्युओं का वरण करता है**) । **उन में सन्देह है—ये चमसाध्वर्यु इन पूर्व कहे गये ऋत्विजों में अन्यतम हैं अथवा इनसे भिन्न हैं ? क्या प्राप्त होता है ?** एतावताम् (=**इतने**) **इस कथन से इन में से ही अन्यतम चमसाध्वर्यु हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण—चमसाध्वर्यवः—ज्योतिष्टोम में ब्रह्मा होता यजमान उद्गाता मैत्रावरुण ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा और अच्छावाक संज्ञक दश-ऋत्विजों के तत्तत्सम्बन्धी १० चमस नाम

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ॥ २५ ॥ (उ०)

चमसाध्वर्यवश्चापरे भवेयुस्तेभ्योऽन्ये इति । कुतः ? तैर्व्यपदेशात् । तैः परिगणितैरेषां व्यपदेशो भवति । मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो, होत्रकाणां चमसाध्वर्यव[1] इति । ननु य एव प्रकृतास्ते चमसाध्वर्य्यवो भवेयुः ? नेति ब्रूमः । कुतः ? तैर्व्यपदेशात् । मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्य्यवो होत्रकाणां चमसाध्वर्य्यव इति षष्ठी सम्बन्धे सति भवति । ऋत्विग्भिस्ते व्यपदिश्यन्ते । ऋत्विजस्तेषां स्वामिनः, न यजमानः । यजमानपुरुषेभ्यश्चैतेऽन्ये इति नः प्रतिज्ञातम् । न यजमानेन चमसाध्वर्य्यवं कर्त्तुं वरीतव्याः, ऋत्विग्भिस्ते वरीतव्या इति । अपि चैषामुत्पत्तिवाक्ये एव भेदः—चमसाध्वर्यून् वृणीते इति ॥२५॥ चमसाध्वर्यूणां पृथक्त्वाधिकरणम् ॥१०॥

के सोमरस के आधारभूत पात्रविशेष हैं । उन चमसों का होम अध्वर्यु के द्वारा किया जाता है, यदि अध्वर्यु अन्य कर्म में व्यासक्त होवे तो उन के होम के लिये जो पुरुष वरण किये जाते हैं, वे चमसाध्वर्यु कहाते हैं ।

चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(च) और (चमसाध्वर्यवः) चमसाध्वर्यु संज्ञक ऋत्विक् भी होवें (तैः) उन परिगणित ऋत्विजों के साथ इन चमसाध्वर्युवों का (व्यपदेशात्) कथन होने से ।

व्याख्या—चमसाध्वर्यु अन्य होवें । उन पूर्व कथितों से भिन्न होवे । किस हेतु से ? उनसे कथनहोने से । उन परिगणित ऋत्विजों के द्वारा इन का कथन होने से । मध्यतः कारियों के चमसाध्वर्यु, होत्रकों के चमसाध्वर्यु [इस प्रकार कथन होता है] । (आक्षेप) जो प्रकृत ऋत्विक् हैं वे ही चमसाध्वर्यु होवें ? (समाधान) ऐसा नहीं है । किस हेतु से ? उन से व्यपदेश होने से । मध्यतःकारियों के चमसाध्वर्यु, होत्रकों के चमसाध्वर्यु [ऐसा कथन] षष्ठी का सम्बन्ध होने पर होता है । ऋत्विजों के द्वारा वे (चमसाध्वर्यु) कहे जाते हैं । ऋत्विक् उन के स्वामी हैं । यजमान स्वामी नहीं है । यजमान संबद्ध पुरुषों से ये चमसाध्वर्यु अन्य हैं, यह हमारी प्रतिज्ञा है । यजमान के द्वारा चमसाध्वर्युवों का वरण नहीं होना चाहिये, ऋत्विजों के द्वारा वे वरणीय हैं । और भी, इन के उत्पत्ति वाक्य में ही भेद है—चमसाध्वर्यून् वृणीते (=अध्वर्यु चमसाध्वर्युवों का वरण करता है) ।

विवरण—मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवः—पूर्व (मी० भाष्य ३।५, अधि०७ (सूत्र २२), ३।५, अधि० ८ (सूत्र २३) तथा ३।५ अधि० १२ (सूत्र ३३) के आरम्भ में) उद्धृत प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य, प्रयन्तु सदस्यानां होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः (कात्या० श्रौत ९।११।३) मन्त्र में पठित होता ब्रह्मा उद्गाता यजमान और सदस्य मध्यतःकारी कहे

---

१. द्र०—आप० श्रौत १२।२३।४ ॥ मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो वषट्कृतानवषट्कृताञ्जुहुत, होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः सकृत्सकृद्धुत्वा······ ।

[**चमसाध्वर्यूणां बहुत्वनियमाधिकरणम् ॥११॥**]

तेष्वेव सन्देहः—किमनियमः, एको द्वौ बहवो वा ? उत बहव एवेति । अनियम इति प्राप्ते, उच्यते –

उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥ २६ ॥ (उ०)

बहव इति । कुतः ? उत्पत्तौ बहुश्रुतेः । चमसाध्वर्य्यव इत्येषामुत्पत्तौ बहुश्रुतिर्भवति[1] । तस्माद् बहव इति ॥२६॥ **चमसाध्वर्यूणां बहुत्वनियमाधिकरणम् ॥११॥**

जाते हैं। द्र० **मध्यतःकारिनाम्नां होतृब्रह्मोद्गातृयजमानसदस्यानां चमसाध्वर्यवः** (आप० श्रौत १२।२३।४ की रुद्रदत्तीय टीका)। कुतुहलवृत्ति में सदस्य का निर्देश नहीं है। कात्या० श्रौत के अनुसार 'सदस्य वा सदस्यों का वरण नहीं होने से ९।११।३ की व्याख्या में विद्याधर मिश्र ने सूत्रस्थ **सदस्यानाम्** को पूर्व पठित होता आदि का अनुवाद माना है। विशेष पूर्वत्र ३।५।२४ भाष्य के विवरण (पृष्ठ ९६४) में देखें। **होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः**—प्रशास्ता ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा आग्नीध्र अच्छावाक ये होत्रक कहाते हैं। द्र० कात्या० श्रौत० ९।११।३ विद्याधरीय टीका तथा आप० श्रौत १२।२३।४ की रुद्रदत्तीय व्याख्या। अच्छावाक प्रातः सवन में नहीं होता है। कुतुहलवृत्ति में प्रशास्ता के स्थान में मैत्रावरुण का निर्देश है। अतः प्रशास्ता और मैत्रावरुण एक के ही नामान्तर जानने चाहियें। **ऋत्विग्भिस्ते वरयितव्याः**—इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है—यद्यपि चमसाध्वर्युवों का वरण यजमान के द्वारा किया जाता है तथापि उन ऋत्विजों के आज्ञाकारित्व रूप से वरण के करने से ऋत्विजों के द्वारा वरण का व्यपदेश होता है। **उत्पत्तिवाक्य एव भेदः**—इसका तात्पर्य यह है कि अध्वर्यु होता आदि के वरण में एक-एक ऋत्विक् का निर्देश करके वरण किया जाता है—**अध्वर्युं वृणीते, होतारं वृणीते आदि**। यहां चमसाध्वर्युवों के वरण में पृथक्-पृथक् निर्देश पूर्वकवरण न करके इकट्ठा अनेकों का वरण किया जाता है ॥२५॥

—:o:—

व्याख्या—**उन्हीं (=चमसाध्वर्युवों) में सन्देह है- क्या [वरण में] अनियम है—एक दो वा बहुत अथवा बहुत ही। अनियम प्राप्त होने पर कहते हैं—**

उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥२६॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्तौ) उत्पत्ति वाक्य—**चमसाध्वर्यून् वृणीते** में (तु) ही (बहुश्रुतेः) बहुत्व की श्रुति=बहुवचन का श्रवण होने से चमसाध्वर्यु बहुत होते हैं।

व्याख्या—बहुत होते हैं। किस हेतु से ? उत्पत्तिवाक्य में बहुत का श्रवण होने से। चमसाध्वर्यवः ऐसी इन की उत्पत्ति में बहुत्व की श्रुति होती है। इसलिये बहुत होते हैं ॥२६॥

---

१. पूर्वपृष्ठस्थटिप्पण्यामुद्धृतमापस्तम्बश्रौतवचनम्।

[चमासध्वर्यू णां दशसंख्यानियमाधिकरणम् ॥१२॥]

ज्योतिष्टोमे चमसाध्वर्यवः। ते च बहव इत्युक्तम्। कियन्तो बहव इति सन्देहे—त्रयो बहुवचनसामर्थ्यादिति प्राप्ते ब्रूमः—

दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ॥ २७ ॥ (उ०)

दशत्वं लिङ्गदर्शनात्। ते दश भवेयुः। तथाहि लिङ्गं ज्योतिष्टोमविकारे दशपेये श्रूयते—**दश चमसाध्वर्यवो दश दश एकैकं चमसमनुसर्पन्ति**[1] इति। एतस्मात् कारणादशपेयो भवतीति ब्रुवन् दशचमसाऽध्वर्यू न् दर्शयति। यदि त्रयो भवेयुरेतद्दर्शनं नोपपद्येत। तस्मात् त्रीनतीत्यैषा सङ्ख्या। यदि च दश न भवेयुर्नोपपद्येतैतद् दर्शनम्। तस्माद् भवन्ति दश। दश चैषाँ स्वामिनः। तस्मात् प्रयोजनभावाद्दशसङ्ख्योपादीयते। तस्यां चोपादीयमानायामरापि पसङ्ख्याऽनुगृह्यते। तेनापि दश भवेयुः॥२७॥ **चमसाध्वर्यू णां दशसंख्यानियमाधिकरणम् ॥१२॥**

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में चमसाध्वर्यु हैं, और वे बहुत से हैं, यह पूर्व अधिकरण में कह चुके। बहुत कितने हों इस सन्देह में—बहुवचन सामर्थ्य से तीन के प्राप्त होने पर कहते हैं—

दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ॥२७॥

सूत्रार्थः——(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (दशत्वम्) दशत्व=दशसंख्यात्व जाना जाता है।

व्याख्या—दशत्व होता है, लिङ्ग दर्शन से वे चमसाध्वर्यु दश होवें। जैसा कि लिङ्ग है, ज्योतिष्टोम के विकार भूत दशपेय याग में सुना जाता है—दश चमसाध्वर्यवः। दश दश एकैकं चमसमनुसर्पन्ति (=दश चमसाध्वर्यु होते हैं। दश दश एक एक चमस को पीने के लिए अनुसर्पण करते हैं)। [यतः एक एक चमस को पीने के लिए दश दश अनुसर्पण करते हैं] इस कारण वह दशपेय होता है, ऐसा कहता हुआ वचन दश चमसाध्वर्युवों को दर्शाता है। यदि तीन होवें तो यह दर्शन उपपन्न न होवे। इस लिये तीन संख्या का अतिक्रमण करके यह संख्या होगी। यदि दश संख्या न होवे तो यह दर्शन उपपन्न न होवे। इस कारण [चमस] दश होते हैं। और इनके स्वामी भी दश होते हैं। इसलिये प्रयोजन होने से दश संख्या का उपादान किया जाता है। उस १० संख्या का उपादान करने पर अन्य [१००] संख्या भी अनुगृहीत होती है। इस से भी दश चमसाध्वर्यु होवें।

विवरण—त्रयो बहुवचनसामर्थ्यात्=बहुवचन का सामर्थ्य तीन से लेकर अनन्त संख्यावाले

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तुलनीयम्—यद् दशदशैकैकं चमसमनुप्रसृप्ता भवन्ति तस्माद्वै-दशपेयः। शत० ब्रा० ५।४।५।३॥

[शमितुरपृथक्त्वाधिकरणम् ॥१३॥

अस्ति शमिता—'शमितारमुपनयीत'[1] इति । स किं सङ्कीर्त्तितानामऽन्यतमः, उत अन्यस्तेभ्य इति ? किं प्राप्तम् ? तेषां वरणे सङ्कीर्त्तनात्, तेषामन्यतम इति प्राप्ते, उच्यते—

शमिता च शब्दभेदात् ॥ २८ ॥ (पू०)

शब्दो भिद्यते । एवंसंज्ञकेनेदं कर्म कर्त्तव्यमिति । तस्मादेवंसंज्ञक उत्पादयितव्यः । अस्य सङ्कीर्त्तनात् सङ्ख्याविवृद्धिर्गम्यते । तस्मादन्यः शमिता स्यात् । अपि च, क्लोमा

द्रव्य को कहने में होता है । **प्रथमत्यागे मानाभावात्** (=प्रथम प्राप्त को छोड़ने में प्रमाण न होने से) त्रित्व का बोध होता है । **ज्योतिष्टोमविकारे दशपेये**—ज्योतिष्टोम का विकार वाजपेय है । उस में संसृप नाम का दसवां दिन होता है । इसी दिन का कर्म दशपेय कहाता है, क्योंकि इस में एक एक चमस के सोम को पीने के लिये दस-दस ब्राह्मण प्रसर्पण करते है । **दशभिः पेयः सोमोऽत्र स दशपेयः** । विशेष देखें—मी० भाष्य ३।५, अधि० २०, सूत्र ५२, पृष्ठ ६६४ पर ववरण ।

दशदश एकैकं चमसमनुप्रसर्पन्ति—यह वचन मी० भाष्य ३।५, अधि० २० (सूत्र ५२ पृष्ठ ६६४) में भी उद्धृत है । वहां इस से पूर्व **शतं ब्राह्मणाः सोमं भक्षयन्ति** वाक्य अधिक पढ़ा है । **तस्माद् दश—दशदश एकैकं चमसमनुप्रसर्पन्ति** वचन से इतना जाना जाता है कि **चमस दश** हैं अतः उनसे सम्बद्ध **चमसाध्वर्यु** भी दश ही होंगे । **अपराऽपि संख्याऽनुगृह्यते**—चमसों के दश होने पर प्रत्येक के प्रति दशदश ब्राह्मणों का अनुप्रसर्पण करने पर ब्राह्मणों की १०० संख्या भी उपपन्न होती है ।

व्याख्या—**शमिता** (=पशु को मारने वाला) है—शमितारमुपनयीत (=शमिता को लाता है) । **क्या वह शमिता संकीर्तित ऋत्विजों में से अन्यतम** (=एक) है **अथवा उन से अन्य है** । **क्या प्राप्त होता है ? उन का वरण में संकीर्तन होने से उन में से एक है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**—

शमिता च शब्दभेदात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(शमिता) शमिता (च) भी (शब्दभेदात्) शब्द=संज्ञा के भिन्न होने से पूर्वनिर्दिष्ट ऋत्विजों से भिन्न होता है ।

व्याख्या—**शमिता भी शब्द भेद से** भिन्न होता है । [**अध्वर्यु आदि से शमिता**] **शब्द भिन्न होता है । इस (=शमिता) संज्ञा वाले को यह कर्म करना चाहिये । इसलिये इस संज्ञा वाला पुरुष उत्पन्न करना चाहिये अर्थात् प्राप्त करना चाहिये** । इस (=**शमिता) के कथन से [पूर्वोक्त १६ संख्या से] संख्या की वृद्धि जानी जाती है** । इस कारण **शमिता अन्य होवे । और**

---

१. अनुपलब्धमूलम् ॥

चार्धं वकर्त्तनं च शमितुः । तद् ब्राह्मणाय दद्याद् यद्यब्राह्मणः स्यात्[1] इति अब्राह्मणाशङ्का भवति । सा ऋत्विजि नोपपद्यते ॥२८॥

भी, क्लोमा चार्धं वैकर्तनं च शमितुः । तद् ब्राह्मणाय दद्यात् यद्यब्राह्मणः स्यात् (= **क्लोमा और आधा वैकर्तन शमिता का भाग होता है । उसे ब्राह्मण को देवे यदि शमिता अब्राह्मण होवे) से जो अब्राह्मण की शङ्का होती है, वह ऋत्विज में (=ऋत्विक् में से ही शमिता के होने पर) उपपन्न नहीं होती है । [क्योंकि ऋत्विक् ब्राह्मण ही होते हैं] ।**

विवरण — क्लोमा चार्धं वैकर्तनम्—ऐतरेय ब्राह्मण ७।१ में ज्योतिष्टोम आदि में मारे गये पशु का कौन सा भाग किस ऋत्विक् आदि का होता है, इसका विस्तार से वर्णन किया है । उसी में यह वचन भी किञ्चित् पूर्वापर पाठभेद से मिलता है । सायण की व्याख्यानुसार क्लोमा शब्द से हृदय का पार्श्ववर्ती मांस खण्ड अभिप्रेत है और वैकर्तन से अन्य (वाम) स्कन्ध में में स्थित प्रौढ मांस खण्ड अभिप्रेत है[2] । उसका आधा और क्लोमा शमिता का भाग है । कुतुहल-वृत्तिकार ने **क्लोमानं वैकर्तस्य शमितुर्दद्यात्** पाठ मान कर वैकर्त को शमिता का विशेषण बनाया है और उसने भाष्योदाहृत श्रुति में भी 'वैकर्तस्य' पाठ स्वीकार किया है । यह भाष्यपाठ और ब्राह्मणपाठ दोनों से विपरीत होने से चिन्त्य है ।

ऐतरेय ब्राह्मण के इस मारे गये पशु के मांस खण्ड का बंटवारा यह स्पष्ट घोषित करता है कि ऐतरेय के मूल प्रवचन काल में अथवा उसके शौनक द्वारा पुनः संस्कार के काल में यज्ञों में पशु की बलि और यज्ञशिष्ट प्रसादरूप मांस का भक्षण ब्राह्मण लोग करते थे । अथवा यह पशु-बलि और यज्ञीय मांसशेष का भक्षण उत्तरकाल का प्रक्षेप होगा[3] । पर प्रक्षेप मानने के लिये कोउ सुदृढ़ प्रमाण नहीं है । पवित्र हिंसारहित अध्वर=यज्ञ पर भी आसुर प्रभाव अथवा वाममार्गीय प्रभाव पड़ चुका था ऐसी संभावना अधिक युक्त है । हम प्रथम भाग में श्रौत यज्ञ मीमांसा निबन्ध में प्राचीन आर्ष वाङ्मय से ही यह सप्रमाण उद्घोषित कर चुके है कि अतिपुराकाल में यज्ञों में पश्वालम्भन नहीं होता था । यज्ञों में पश्वालम्भन उत्तर का में आरम्भ हुआ था ॥२८॥

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अर्धं चैव वैकर्तस्य क्लोमा च शमितुः । तद् ब्राह्मणाय दद्यात्, यद्यब्राह्मणः स्यात् । ऐ० ब्रा० ७।१ ।

२. इतरपार्श्वे स्थिताः तिस्रः कीकसाः, वैकर्तः प्रौढो मांसखण्डः, तस्यार्धं ···· यत्तु वैकर्त-स्येतरदर्धं यश्च हृदयपार्श्ववर्ती क्लोमशब्दभिधो मांसखण्डः, तदुभयं शमितुर्भागः । सायण-भाष्य ऐ० ब्रा० ७।१ ।।

३. ऐतरेय ब्राह्मण के अन्य अध्यायों में अनेक खण्ड हैं । परन्तु ७वीं पञ्जिका के इस इकत्तीसवें अध्याय में एक ही खण्ड है । और उस में पशु के मांसखण्डों के विभाग का ही वर्णन है । यह वैलक्षण्य विचारणीय है ।

प्रकरणाद्धोत्पत्त्यसंयोगात् ॥ २९ ॥ (३०)

सत्यं सङ्ख्याविवृद्धिर्गम्यते, न तूत्पद्यमानेषु । या त्वनुत्पत्तिस्तेषु गम्यते, तत्र-एकस्य कर्म्मभेदाद्[1] इदित्येवमप्यवकल्पते । यत्तूक्तम्—अब्राह्मणाशङ्का भवतीति । यजमानाभिप्राया सा, यदि अब्राह्मणो यजमानः स्यादिति । ननु यदि अब्राह्मणः स्यादिति प्रकृतः शमिता सम्बद्ध्यते । उच्यते । शमयतीति शमिता । यौगिक एष शब्दः प्रकृतेष्वप्यवकल्पते । शामित्रमप्याध्वर्यवे समाम्नानादध्वर्युणा कर्त्तव्यम् । तस्मात्, शमनादध्वर्युः शमिता । एवं सति अप्रकृतो यजमानः सम्बध्यते ॥ २९ ॥ **शमितुरपृथक्त्वाधिकरणम् ॥१३॥**

—:०:—

प्रकरणाद्धोत्पत्त्यसंयोगात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व निर्दिष्ट 'शमिता १६ ऋत्विजों से भिन्न है' पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (प्रकरणात्) प्रकरण से १६ ऋत्विजों में से ही अन्यतम होता है । (उत्पत्त्यसंयोगात्) उत्पत्ति=ऋत्विजों के वरण विधायक वचनों में **शमितारं वृणीते** ऐसे वचन का संयोग न होने से ऋत्विजों की संख्या की वृद्धि भी नहीं होगी ।

व्याख्या—संख्या की वृद्धि जानी जाती है यह सत्य है, **परन्तु उत्पद्यमान ऋत्विजों में संख्या की वृद्धि नहीं होती है । और जो यह कहा है कि ऋत्विजों में** [**शमिता की**] **उत्पत्ति नहीं जानी जाती है—उस विषय में** एकस्य कर्मभेदात् (मी० ३।७।२१)='**एक के ही कर्मभेद से नाम भेद होता है' इस प्रकार उपपत्ति** होती है । और जो कहा है—'**अब्राह्मण की आशङ्का होती है ।' वह आशङ्का यजमान के अभिप्राय से** है, यदि **अब्राह्मण यजमान होवे** । (आक्षेप) '**यदि अब्राह्मण होवे' इस से प्रकृत शमिता सम्बद्ध** होता है । (समाधान) शमयति=**जो शान्त करता =मारता है वह शमिता । यह यौगिक शब्द प्रकृत ऋत्विजों में भी उपपन्न** होता है । **शामित्र (=शमितृ सम्बन्धी कर्म) भी आध्वर्यव** (=यजुर्वेद में समाम्नात) **होंने से अध्वर्यु को करना चाहिये । ऐसा होने पर** [यदि अब्राह्मणः स्यात्] **अप्रकृत यजमान में सम्बद्ध होता है ।**

विवरण—कुतुहलवृत्तिकार ने इस विषय पर जो विचार प्रस्तुत किया है । वह संक्षेप से इस प्रकार है—**सूत्रस्थ प्रकरणात्** शब्द का अर्थ है—प्रकरण=प्रक्रिया=प्रकृति प्रत्यय द्वारा शब्द व्युत्पादन—**शमयतीति शमिता** । इन ऋत्विजों में अध्वर्यु शमिता नहीं है । क्योंकि **पराङ् आवर्ततेऽध्वर्युः पशोः संज्ञप्यमानात्** (=अध्वर्यु संज्ञप्यमान पशु से दूसरी ओर लौटता है) इस वचन से विरोध होता है । अध्वर्यु के प्रतिप्रस्थाता नेष्टा उन्नेता में से कोई शमिता होता है । इस से शामित्र कर्म की 'आध्वर्यव' यह संज्ञा भी विरुद्ध नहीं होती है । वाजसनेय शाखा में 'शमिता पशु को ले जाता है । उस को प्रतिप्रस्थाता अन्वारम्भ (=स्पर्श) करता है, उस को अध्वर्यु, उस को यजमान । उल्मुक को लेकर आग्नीध्र पूर्व दिशा में जाता है, 'अर्जेदग्निम्' ऐसा

---

१. मीमांसा० ३।७।२२॥

मैत्रावरुण प्रैष देता है, 'दैव्याः शमितारः' ऐसा अध्रिगु को होता कहता है, ब्रह्मा दक्षिण में बैठता है' इस प्रकार युगपत् कर्म जाने जाते हैं। अतः इन ऋत्विजों से अन्य शमिता है। यह निर्विवाद है। उस काल में नेष्टा उन्नेता जो अध्वर्यु के पुरुष हैं शमिता होंगे, यह भी नहीं कह सकते क्योंकि पशुबन्ध के छ ऋत्विक् होते हैं, ऐसा कहा है। इस प्रकार भाष्योदाहृत श्रुति में अब्राह्मण पद शमिता विषयक ही उपपन्न होता है। पशु याग सान्नाय्य का विकार है। सान्नाय्य के भक्षण में अब्राह्मण का प्रतिषेध होने से सान्नाय्य विकारभूत पशुभक्षण में अब्राह्मण के भक्षण का प्रतिषेध प्राप्त होने से अब्राह्मण शमिता क्लोमा का भक्षण न करे, यही अर्थ स्वारस्य से प्रतीत होता है। शमिता दो प्रकार का होता है—संज्ञपयिता=मारनेवाला और विशसिता=अङ्गों को काटने वाला। इस लिए यह अधिकरण विशासितारूप शमिता परक है। संज्ञपन करनेवाला =मारनेवाला शमिता[1] ऋत्विक् से अन्य ही है। विशसन करने वाला ऋत्विग् अन्तर्गत शमिता है। अन्यथा ऋत्विजों में से अन्यतमके शमिता होने पर आदित्य पुराण के कलिवर्ज्य-प्रकरण में 'ब्राह्मण का कलि में शामित्र कर्म का निषेध करने' से कलि में पशुयाग का लोप ही हो जावे। इस कारण पूर्व युगों में चारों वर्णों में से अन्यतम शमिता होता था, अब कलियुग में शूद्र ही शमिता होता है क्योंकि ब्राह्मण के शमयितृत्व का निषेध है।

कुतुहलवृत्तिकार के इतना विचार करने का तात्पर्य यही है कि पशु को मुखनासिका आदि बन्द करके मारनेवाला शमिता ऋत्विजों में अन्यतम होता है और अङ्गों का काटनेवाला शमिता ऋत्विजों से भिन्न शूद्र होता है। **यदि अब्राह्मणः स्यात्** में संज्ञपन करने वाले शमिता का निर्देश होने से यहां कलि में अब्राह्मण ही शमिता होगा। 'यजमान अब्राह्मण होवे तो शमिता स्वभाग का भक्षण न करे' इस भाष्य का एक प्रकार से कुतुहलवृत्तिकार ने खण्डन किया है। हमारे विचार में भी ब्राह्मण श्रुति में **यदि अब्राह्मणः स्यात्** में शमिता के अब्राह्मणत्व का सन्देह ही स्वरस से प्रतीत होता है। भाष्यकार की कल्पना क्लिष्टकल्पना मात्र है।

उक्त विचार यज्ञ में पश्वालम्भ के आरम्भ होने के उत्तर काल का है। पुराकाल में जब पर्यग्निकरण के अनन्तर पशुमात्र का उत्सर्ग हो जाता था, तब न पशु के भाग होते थे और न कौन सा भाग किसका हो इस विचार की आवश्यकता थी और न शमिता ऋत्विजों में से अन्यतम होवे अथवा पृथक् यह विचार ही उपपन्न होता था। सम्प्रति उपलभ्यमान शाखाएं एवं ब्राह्मण ग्रन्थ प्रोक्तग्रन्थ हैं। अत एव इन में प्राचीन काल की व्यवस्था की भी क्वचिदुपलब्धि हो जाती है और नवीन व्यवस्था का तो ये व्याख्यान करते ही हैं। मन्त्र-संहिता गत यज्ञ आधिदैविक यज्ञ हैं। उन में सृष्टियज्ञान्तर्गत होनेवाले दैवयज्ञों के साथ आसुर पशुयज्ञों का भी वर्णन है। वह अधिदैविक पशुयाग के निदर्शनार्थ है। नाटकस्थानीय यज्ञकर्म में पशुवध उसी प्रकार से वर्जित है जैसे नाटकों में मारना काटना वर्जित है। इसलिये यज्ञों में पशुओं का पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग ही प्राचीन काल में होता था। कर्म की पूर्ति **यद्देवत्यः पशुः तद्देवत्यः पुरोडाशः** नियम से पुरोडाश के द्वारा की जाती थी। विशेष हमारे श्रौतयज्ञ मीमांसा प्रकरण में देखें। ॥२६॥

—:o:—

१. वैकर्त —कर्त शैथिल्ये। प्राण शैथिल्य ही संज्ञपन है। कुतुहलवृत्ति।

[उपगाऽपृथक्त्वाधिकरणम् ॥ १४ ॥]

ज्योतिष्टोमे सन्त्युपगा नाम। ते शब्दभेदात् सङ्ख्याविवृद्धिं प्रत्याययन्तीत्यऽध्वर्य्वादिभ्योऽन्ये इति प्राप्ते ब्रूमः—

उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥ ३० ॥ (उ०)

तेषामेव केचित् स्युरिति। कस्मात्? उत्पत्तौ परिगणनाद् यौगिकत्वाच्च शब्दस्य। लिङ्गमिदं भवति—नाध्वर्युरुपगायेत्[1] इति। यद्येभ्योऽन्ये भवेयुर्नाध्वर्युं प्रतिषेधेत्, अप्राप्तत्वात्। यतस्तु प्रतिषेधति, अतोऽवगच्छामः—उत्पत्तौ सङ्कीर्त्तितानामेवान्यतम इति ॥३०॥ उपगाऽपृथक्त्वाऽधिकरणम् ॥१४॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में उपगा नाम के कर्मकर श्रुत हैं। वे शब्द भेद से १६ संख्या की वृद्धि को जताते हैं। इसलिये उपगा नाम के कर्मकर अध्वर्यु आदि से भिन्न हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—उपगानाम—उपगायन्ति इत्युगाः। साम का गान करनेवाले उद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता के उप=आनुकूल्य से 'हो' शब्द से स्थिर शब्द को उच्चारण करनेवाले उपगा कहाते है। जैसे वीणा के वादन में आघात के पश्चात् तदनुकूल जो कम्पजनित स्थिर स्वरूप अनुध्वनि उत्पन्न होती है, तद्वत् उद्गाता आदि के समीप में स्थित होकर गान करने हारों के विराम काम काल को एक श्रुति से 'हो' ऐसे शब्द द्वारा पूर्ण करने हारे जो साहाय्यकर्त्ता होते हैं वे उपगाता कहे जाते हैं। (मीमांसाकोष, पृष्ठ ११४१)।

उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थः—(उपगाः) उपगा संज्ञक कार्यकर्त्ता (च) भी (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से ऋत्विजों में से ही होवें ॥

विशेष—कुछ व्याख्याता सूत्रस्थ चकार से पूर्वसूत्र निर्दिष्ट **उत्पत्त्यसंयोगात्** हेतु का समुच्चय करते है। वैसा करने पर सूत्र का स्वरूप **लिङ्गदर्शनाच्च** ऐसा होना चाहिये। अतः यदि पूर्व हेतु का समुच्चय करना है तो सूत्रस्थ चकार का **स्थानाच्च पूर्वस्य** (मी० ३।६।१९) के समान भिन्नक्रम=अस्थान में पाठ मानना होगा। द्र० मी० ३।६।१९, पृष्ठ १०१५ में सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' शब्द से निर्दिष्ट टिप्पण।

व्याख्या—उन ऋत्विजों में से ही कोई उपगा होवें। किस कारण से? उत्पत्ति (=वरणविधि) में परिगणन होने से और 'उपगा' शब्द के यौगिक होने से। यह लिङ्ग होता है—नाध्वर्युरुपगायेत् (=अध्वर्यु उपगान न करे)। जिस कारण [अध्वर्यु के उपगान का यह वचन] प्रतिषेध करता है इस से हम जानते हैं कि उत्पत्ति में संकीर्तित ऋत्विजों में से ही अन्यतम उपगा होते हैं।

---

1. तै० सं० ६।३।१।५॥

[सोमविक्रेतुः पृथक्त्वाधिकरणम् ॥१५॥]

अस्ति सोमविक्रयी । तत्र सन्देहः—स किमध्वर्य्वादीनामन्यतमः, उतैभ्योऽन्य इति ? किं प्राप्तम् ? तेषां सङ्कीर्त्तनात् तेषामन्यतम इति प्राप्ते ब्रूमः—

विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥ ३१ ॥ (उ०)

विक्रयी त्वन्यः स्यादिति । विक्रयो न चोद्यते, क्रयश्चोद्यते । तत्र अर्थाद् विक्रयः ।

विवरण—कुतुहल वृत्तिकार ने लिखा है—कतिपय याज्ञिक ऋत्विजों से भिन्न उपगाताओं को मानते हैं । यह युक्त है । काठक में **शतं वर्षसहस्राणि दीक्षिताः सत्रामसत** इस 'विश्वसृजामयन' नामक सत्र में **तप आसीद् गृहपति** इत्यादि से गृहपति ब्रह्मा होत्रादि कर्ताओं का अनुक्रमण करके उनसे भिन्न रूप से ही उपगाताओं का निर्देश किया है **आर्त्त वा उपगातारः** । यहां (=काठक श्रुति में) उपगाता ऋत्विजों के अन्तर्गत नहीं होते हैं ऐसा हम मानते हैं । **नाध्वर्युरुपगायेत्** (तै० सं० ६।३।१।५) वचन ये **प्रसृप्ता[ः स्यु]स्ते सर्वेऽग्निष्टोममुपगायेयुः**[1] (आप० श्रौत १३।१५।६) वचन से अग्निष्टोम स्तोत्र में प्राप्त अध्वर्यु के उपगातृत्व का निषेध होता है । अतः कोई दोष नहीं हैं ।

विशेष—हमें कुतुहल वृत्तिकार निर्दिष्ट काठक वचन काठक संहिता में उपलब्ध नहीं हुआ । हो सकता है काठक ब्राह्मण में उक्त वचन हो । यह सम्प्रति अनुपलब्ध है । लाहौर में सम्भवतः डा० सूर्यकान्त ने विभिन्न स्थानों में उद्धृत काठक ब्राह्मणों के वचनों का संकलन छापना आरम्भ किया था । वह भी सन् १९४७ में हुए देशविभाजन के कारण नष्ट हो गया ।।३०।।

व्याख्या—[ज्योतिष्टोम में] **सोम को बेचनेवाला है । उसमें सन्देह होता है—क्या वह अध्वर्यु आदि ऋत्विजों में अन्यतम होता है अथवा उन से भिन्न ? क्या प्राप्त होता है ? उन (अध्वर्यु आदि ऋत्विजों) का संकीर्तन होने से उन में से एक होता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ।।३१।।

सूत्रार्थः—(विक्रयी) सोम का विक्रेता (तु) तो (अन्यः) अध्वर्यु आदि परिगणित ऋत्विजों से भिन्न होवे । (कर्मणः) विक्रय रूप कर्म के (अचोदितत्वात्) विधान न करने से । अर्थात् ज्योतिष्टोम में सोम का खरीदना तो कहा गया है, सोम को बेचने का विधान नहीं किया है । अतः बेचनेवाला ऋत्विजों से भिन्न होता है ।

व्याख्या—**सोम का विक्रेता अन्य होवे । सोम के विक्रय का विधान नहीं किया है, क्रय का विधान किया है । वहां (=क्रय का विधान होने पर) अर्थापत्ति से विक्रय जाना जाता है ।**

---

१. द्र० काठक सं० २६।१—यावन्तः प्रसृप्ताः स्युस्ते सर्वेऽग्निष्टोममुपगायेयुः । इसी प्रकार कठ कपिष्ठल ४०।४ में भी है ।

ज्योतिष्टोमस्य च पदार्थान् कर्त्तुमध्वर्य्वादय उत्पाद्यन्ते, न तु विक्रयो ज्योतिष्टोमस्य श्रूयन्ते ।तस्मान्नाध्वर्य्वादीनामन्यतम इति ॥३१॥ **सोमविक्रेतुः पृथक्त्वाधिकरणम्॥१५॥**

[ऋत्विगिति नाम्नोऽसर्वगामिताऽधिकरणम्] ॥१६॥

ये एते पुरुषा ज्योतिष्टोमस्य श्रूयन्ते, ते किं सर्वे एते ऋत्विजः उत केचिदेषामिति ? किं प्राप्तम् ?

कर्म्मकार्य्यात् सर्वेषाम् ऋत्विक्त्वमविशेषात् ॥ ३२ ॥ (पू०)

सर्वे । कुतः ? कर्म्मकार्य्यात् । सर्वे यागस्य साधनं कुर्वन्ति, तस्मात् सर्वे ऋतौ यजन्ति । ये च ऋतौ यजन्ति ते ऋत्विजः । न कश्चिद्विशेष आश्रीयते—इमे एव ऋतौ यजन्तीति ऋत्विजः, इमे नेति । तस्मात् सर्वेषाम् ऋत्विक्त्वम् । ननु परिसङ्ख्या श्रूयते—**सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विज**[1] इति । उच्यते । परिसङ्ख्यायां बहवो दोषाः सन्तीत्यवयुत्यवादोऽयं भविष्यति ॥३२॥

ज्योतिष्टोम के पदार्थों को करने के लिये अध्वर्यु आदि सम्पादित किये जाते है, सोम का विक्रय रूप कर्म ज्योतिष्टोम का नहीं सुना जाता है । [अर्थात् सोम का विक्रय ज्योतिष्टोम का अङ्ग कर्म है, ऐसा नहीं जाना जाता है] । इसलिये सोम का विक्रेता अध्वर्यु आदि में अन्यतम नहीं है ॥३१॥

—:०:—

व्याख्या—**जो ये पुरुष ज्योतिष्टोम के सुने जाते हैं (=विहित हैं)वे सब ऋत्विक् हैं अथवा उन में से कोई हैं [अर्थात् कतिपय हैं ऋत्विक् कतिपय ऋत्विक् नहीं हैं]। क्या प्राप्त होता है ?**

कर्मकार्यात् सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात् ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थः—(कर्मकार्यात्) कर्मकरत्व हेतु से (सर्वेषाम्) सब का (ऋत्विक्त्वम्) ऋत्विक्-पन होता है (अविशेषात्) विशेष का निर्देश न होने से ।

विशेष—कर्मकार्यात् सर्वेषाम्—'कर्मकार्य' में कर्मकर शब्द से भाव में ब्राह्मणादि के आकृतिगण (काशिका ५।१।१२४) होने से ष्यञ् प्रत्यय होता है और आर्षत्व से उत्तरपद को वृद्धि होती है—कर्मकर+ष्यञ्=कर्मकार्य (द्र०) कुतुहलवृत्ति ।

व्याख्या—**सब ऋत्विक् होते हैं । किस हेतु से । कर्मकरत्व होने से । सब याग का साधन (=सिद्धि) करते हैं । इस कारण सभी ऋतु (=समय) प्राप्त होने पर यजन करते हैं । जो ऋतु में यजन करते हैं वे ऋत्विक् होते हैं । किसी विशेष का आश्रय नहीं किया जाता है - ये ही ऋतु में यजन करते हैं, ये नहीं करते । इस कारण सब का ऋत्विक्त्व है । (आक्षेप) परिसंख्या (=नियमन) सुनी जाती है—सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजो भवन्ति (=सोम सम्बन्धी यज्ञ के १७ ऋत्विक् होते हैं) । (समाधान) परिसंख्या में बहुत दोष हैं । इसलिये यह अवयुत्यवाद (=पृथक् कृत्यवाद) होगा ।**

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

न वा परिसङ्ख्यानात् ॥ ३३ ॥ (उ०)

न वा सर्वे। कस्मात् ? परिसङ्ख्यानात् । एवं हि श्रूयते—**सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विज** इति। स एष न विधिः, बहुतराणां प्राप्तत्वात्। नानुवादः, प्रयोजनाभावात्। न चेत् परिसङ्ख्यापि, आनर्थक्यमेव स्यात्। ननु परिसङ्ख्यायां

विवरण—**ये च क्रतौ यजन्ति ते ऋत्विजः**—भगवान् पाणिनि ने **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** (अष्टा० ३।२।५९) में ऋत्विक् शब्द का निपातन से साधुत्व दर्शाया है। काशिकाकार ने इस की व्युत्पत्ति **ऋतौ यजति** (=समय उपस्थित होने पर यजन करता है) **ऋतुं यजति** (=समय को प्राप्त करके यजन करता है) तथा **ऋतुप्रयुक्तो यजति** (=समय से प्रेरित होकर यजन करता है) दर्शा कर कहा है—**रूढिरेषा**। यह रूढ़ शब्द है। कुतुहलवृत्तिकार ने ऋतु का **ऋ गतौ** धात्वर्थ का अनुसरण करके दक्षिणाप्राप्ति अर्थ भी दर्शाया है। तदनुसार अर्थ होगा—**ऋतौ दक्षिणाप्राप्तौ यजति**=दक्षिणा की प्राप्ति के लिये जो यज्ञ कराता है, वह ऋत्विक् कहाता है। ऋत्विक् कर्म एक महत् सम्मान युक्त कर्म है। गृह्य सूत्रकारों ने अर्घ्य प्रकरण में ऋत्विजों को भी अर्घ के योग्य कहा है—**षड् अर्घ्या भवन्ति—आचार्य ऋत्विक् वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति** (पार० गृह्य १।३।१)। परन्तु कालान्तर में दक्षिणा के लोभी व्यक्तियों के इस कर्म में प्रवृत्त हो जाने से आर्त्विज्य गर्हित हो गया। अष्टा० ३।३।४६ का काशिकावृत्ति में एक उदाहरण है—**स्रुवप्रग्राहेण चरति द्विजो दक्षिणार्थी** अर्थात् हाथ में स्रुव पकड़ कर दक्षिणार्थी विचरण करता है—कोई मुझ से यज्ञ कराले। शास्त्रकारों ने ठीक ही कहा है—**असन्तोषाद् द्विजा नष्टाः**=ब्राह्मण असंतोष से नष्ट हो जाते हैं। **परिसंख्यायां बहवो दोषाः**—परिसंख्या में स्वार्थहान परार्थकल्पना और प्राप्तबाध तीन दोष होते है। (द्र० मी० भाष्य, भाग १, पृष्ठ १९६-१९७)। प्रकृत वचन में परिसंख्या मानने पर 'सप्तदश ऋत्विक्' इस स्वार्थ का त्याग होगा, 'सप्तदश से अधिक वा न्यून न हों' इस परार्थ की कल्पना करनी होती है और सामान्य रूप से ज्योतिष्टोम में श्रूयमाण सब पुरुषों का जो ऋत्विक्त्व प्राप्त होता है, उसका बाध होगा। **अवयुत्ववाद**—अवपूर्वक यु धातु पार्थक्य में प्रयुक्त होता है। अतः ज्योतिष्टोम में श्रुत व्यक्तियों में से पृथक् करके=छांट करके १७ का ऋत्विक्त्व होता है, यह अर्थ करेंगे ॥३२॥

न वा परिसंख्यानात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(न वा) सब ऋत्विक् नहीं है। **सप्तदश ऋत्विजः इस प्रकार** (परिसंख्यानात्) परिसंख्यान=गणना होने से अर्थात् ऋत्विक् सत्रह ही होते हैं।

व्याख्या—**सब ऋत्विक्** नहीं हैं। किस हेतु से ? परिसंख्यान (=गणना) होने से। इस प्रकार सुना जाता है—सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः (=सोम सम्बन्धी हिंसारहित यज्ञक्रतु के १७ ऋत्विक् होते हैं)। यह विधि नहीं है। बहुत से व्यक्तियोंकी ऋत्विक् संज्ञा प्राप्त होने से। अनुवाद भी नहीं है, प्रयोजन नहीं होने से। अब यदि परिसंख्या भी न होवें तो इस वचन का आनर्थक्य ही होवे। (आक्षेप) परिसंख्या में स्वार्थहान परार्थ-कल्पना

स्वार्थहानं परार्थकल्पना प्राप्तबाधश्च । उच्यते । स्वार्थहानमदोषः प्राप्तत्वात् । परार्थकल्पना च प्रत्ययात् । बहूनाम् ऋत्विक्त्वे ज्ञाते पुनः सप्तदशर्त्विज इत्युच्यते । सप्तदशभिऋर्त्विक्शब्दस्य सम्बन्धः पुनः प्रकाश्यते, अधिकैश्च न प्रकाश्यते । तत्र विज्ञायते एतत्—ऋत्विक्शब्दस्य पुरुषैः सम्बन्धे पुनः प्रकाश्यमाने सप्तदशभ्योऽभ्यधिका वर्जिता इति गम्यते । तत्र किं सप्तदशभिः सम्बन्धो विवक्षितः, किं वा अधिकानां वर्जनमिति ? सप्तदशसम्बन्धस्याप्रयोजकत्वादधिकानां वर्जनं विवक्षितमिति गम्यते ॥

आह । ननु प्रतिषिद्धयमानेष्वप्यधिकेषु प्रतिषेधो न प्राप्नोति । न हि ते ऋतौ न यजन्ति, न वा ऋतौ यजन्तो न ऋत्विजः स्युः ? उच्यते । सत्यम्, न प्रतिषेधाद् ऋत्विक्शब्देन न सम्बद्धयन्ते, किन्तु प्रतिषेधसामर्थ्याद्धि ऋत्विक्कार्ये न भवन्ति । किं पुनर्ऋत्विक्कार्यम् ? ऋत्विज उपवसन्ति[1] इति, ऋत्विजो वृणीते[2], ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा ददाति[3] इति । आह । यदृत्विजां कार्यं, कथं तत् केषाञ्चिदृत्विक्शब्दकानां न स्यात् ?

और प्राप्त बाध दोष होते हैं । (समाधान) स्वार्थ का त्याग दोष नहीं है, प्राप्त होने से, परार्थ कल्पना [भी दोष नहीं है] प्रतीत होने से । बहुतों के ऋत्विक्त्व के ज्ञात होने पर फिर जो सप्तदशर्त्विजः ऐसा कहा जाता है, उस मे सत्रह पुरुषों के साथ ऋत्विक् शब्द का सम्बन्ध पुनः प्रकाशित किया जाता है, सत्रह से अधिक के साथ ऋत्विक्त्व का संबन्ध प्रकाशित नहीं किया जाता है । उस अवस्था में यह जाना जाता है—ऋत्विक् शब्द का पुरुषों के साथ सम्बन्ध के पुनः प्रकाशित किये जाने पर सत्रह से अधिक वर्जित हैं, ऐसा जाना जाता है । यहां क्या सप्तदश से सम्बन्ध विवक्षित है अथवा क्या अधिकों का वर्जन विवक्षित है ? सप्तदश के सम्बन्ध के अप्रयोजक होने से अधिकों का वर्जन विवक्षित है । ऐसा जाना जाता है ।

(आक्षेप) अधिकों के प्रतिषिध्यमान होने पर भी प्रतिषेध प्राप्त नहीं होता है । वे 'ऋतु प्राप्त होने पर यजन नहीं करते हैं' । ऐसा नहीं है, और 'ऋतु प्राप्त होने पर यजन करते हुए ऋत्विक् न होवें' ऐसा नहीं है । (समाधान) यह सत्य है कि प्रतिषेध से ऋत्विक् शब्द से वे सम्बद्ध नहीं होते, ऐसा नहीं है अर्थात् ऋत्विक् शब्द से वे सम्बद्ध होते ही हैं । किन्तु प्रतिषेधसामर्थ्य से ऋत्विक् के कार्य में प्रवृत्त नहीं होते हैं । ऋत्विक् का कार्य क्या है ? ऋत्विज उपवसन्ति (=ऋत्विक् उपवास करते हैं) ऋत्विजो वृणीते (=ऋत्विजों का वरण करता है) ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति (ऋत्विजों को दक्षिणा देता है) । (आक्षेप) जो ऋत्विजों का कार्य है, वह किन्हीं ऋत्विक् शब्द वालों का कैसे नहीं होगा ? (समाधान) अच्छा तो दो प्रकार का यह ऋत्विक्

---

१. अनुपलब्धमूलम् । इह 'ऋत्विजः प्रचरन्ति' निर्देशो युक्तः स्यात् ।

२. अनुपलब्धमूलम् ।

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यद् दक्षिणा दीयन्ते……ऋत्विग्भ्यो ददाति । मै० सं० ४।८।३॥

उच्यते। एवं तर्हि द्विविधोऽयं ऋत्विक्शब्दः—ऋतुयजननिमित्तः, वरणभरणनिमित्तश्च। तत्र यागनिमित्तस्य ग्रहणमनर्थकम्। तस्माद् वरणभरणनिमित्तो गृह्यते इति॥

आह। नन्वितरेतराश्रयमेवं भवति। ये ऋत्विजस्ते वरीतव्याः, ये व्रियन्ते ते ऋत्विज इति। तदितरेतराश्रयम्। उच्यते। न हि ऋत्विजो वृणीते इत्ययमर्थः—ऋत्विजः सन्तो वरीतव्या इति। कथं तर्हि? वरणेन ऋत्विजः क्रियन्ते इति। एवं द्वितीयानिर्देशो युक्तो भविष्यति—अध्वर्युं वृणीते[1] इत्येवंलक्षणः। दृष्टाऽर्थता च वरणस्य भविष्यति। कथमात्मेच्छया अध्वर्युर्भवतीति चेत् कश्चिद् ब्रूयात्, भवतीति ब्रूयाम्। कथम्? एवंशब्दकेनाऽयं पदार्थः कर्त्तव्य इति, नास्त्येवंशब्दकः। यश्च नास्ति, स यदि शक्यते कर्त्तुं, कर्त्तव्यो भवति। यथा जुह्वा जुहोति[2] इति अविद्यमाना जुहूः क्रियते। एवमेतदपि द्रष्टव्यम्। तत्रार्थादनियमेन ऋत्विक्शब्दसम्बन्धे कर्त्तव्ये, एवं वरणविशेषेण

शब्द है—ऋतुकाल में यजन निमित्तवाला और वरण-भरण निमित्तवाला। उन में यागनिमित्तवाले ऋत्विक् शब्द का ग्रहण अनर्थक है, इस कारण वरण-भरण निमित्तवाला ऋत्विक् शब्द होता है [अर्थात् जिनका वरण और जिन को दक्षिणा दी जाती है, वे सत्रह ही होते हैं]॥

विवरण—ऋत्विज उपवसन्ति—इसके स्थान में ऋत्विजः प्रचरन्ति (=ऋत्विक् कर्म करते हैं) उदाहरण युक्त प्रतीत होता है। वरणभरणनिमित्तश्च—इस अर्थ में ऋतुशब्द में ऋ गतौ के धात्वर्थ को लेकर ऋतुं=वरणं प्राप्य यद्वा ऋतुं=दक्षिणां प्राप्य यजन्ति (=वरण को अथवा भरणनिमित्त दक्षिणा को प्राप्त करके यजन करते हैं) अर्थ जानना चाहिये। द्र०—पूर्वसूत्र के भाष्य के व्याख्यानस्थ विवरण में निर्दिष्ट कुतूहलवृत्तिकार का मत।

(आक्षेप) यह तो इतरेतराश्रय होता है—जो ऋत्विक् हैं, उन को वरण करना चाहिये और जो वरण किये जाते हैं वे ऋत्विक् होते हैं। यह एक दूसरे के आश्रित है। (समाधान) ऋत्विजो वृणीते इसका यह अर्थ नहीं है कि ऋत्विक् होते हुओं को वरण करना चाहिये। तो कैसा है? वरण से ऋत्विक् किये जाते हैं, [अर्थात् वरण से वृत पुरुषों के साथ ऋत्विक् शब्द का सम्बन्ध जोड़ा जाता है]। इस प्रकार द्वितीया का निर्देश युक्त होगा—अध्वर्युं वृणीते इत्यादि रूप का। और वरण की दृष्टार्थता भी होगी। आत्मेच्छा=स्व इच्छा से कैसे अध्वर्यु होता है, ऐसा कोई कहे तो 'होता है' ऐसा मैं कहता हूं। किस प्रकार से? इस शब्द (=नाम) वाले को यह पदार्थ करना चाहिये इस प्रकार का वचन नहीं है। और जो नहीं है, वह यदि किया जा सकता है तो करणीय होता है। जैसे—जुह्वा जुहोति (=जुहू से होम करता है) से अविद्यमान जुहू [होम के लिए प्राप्त] की जाती है। इसी प्रकार यह (=अध्वर्यु शब्द) भी जानना चाहिये। वहां प्रयोजन के द्वारा अनियम से ऋत्विक् शब्द के सम्बन्ध के करणीय

---

१. अनुपलब्धमूलम्।
२. अनुपलब्धमूलम्।

कर्त्तव्य इति नियम्यते। तस्मान्नेतरेतराश्रयम्। तस्मात् सप्तदशैव ऋत्विजः कर्त्तव्या इति परिसङ्ख्या। सप्तदश ऋत्विजः संस्कारैः कर्त्तव्या इति ॥३३॥

होने पर इस प्रकार वरण विशेष से [ऋत्विक् शब्द का सम्बन्ध] करना चाहिये यह नियम किया जाता है। इस लिये इतरेतराश्रय नहीं है। इस कारण सत्रह ही ऋत्विक् करने चाहियें यह परिसंख्या है। सत्रह ऋत्विजों को [वरण आदि] संस्कारों से संस्कृत करना चाहिये।

विवरण—**कथमात्मेच्छया अध्वर्युर्भवति**—यहां आक्षेप्ता ने अध्वर्यु शब्द **आत्मनः अध्वर—मिच्छति** इस अर्थ में **सुप आत्मनः क्यच्** (अष्टा० ३।१।८) से अध्वर शब्द से आत्मेच्छा में क्यच् प्रत्यय, **क्याच्छन्दसि** (अष्टा० ३।२।१७०) से तच्छील आदि अर्थ में 'उ' प्रत्यय और अध्वर के अकार का लोप होकर निष्पद्यमान मान कर आक्षेप किया है। उसका तात्पर्य है कि अध्वर्यु नामक ऋत्विक् दूसरे के याग को निष्पन्न करता है। आत्मेच्छा से अध्वर्यु कैसे होगा? इस आक्षेप का भाष्यकार ने वास्तविक समाधान नहीं किया। इस का कारण भाष्यकार की व्याकरण शास्त्र में विशेष गति का अभाव है। भाष्यकार की व्याकरणविषयक अज्ञता का उदाहरण पूर्व १।१।३१ के भाष्य में **प्रावाहणि** शब्द का विवरण है। **प्रावाहणि** शब्द का भाष्यकार ने जो विवरण प्रस्तुत किया है, उसमें व्याकरण शास्त्र के अनुसार क्या दोष है, इस का विवरण वहीं (भाग १, पृष्ठ ९३ के हमारे विवरण में देखें)। आक्षेप्ता के आक्षेप का वास्तविक समाधान है—**छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्** वार्तिक से परेच्छा में भी क्यच् की उत्पत्ति। यथा **मा त्वा वृका अघायवो विदन्** (यजुः ४।३४) में 'अघायु' पद में आत्मेच्छा नहीं हैं। कोई भी अपने अघ=पाप की कामना नहीं करता, तो फिर वृक का विशेषण अघायु कैसे होगा? अतः यहां पर परेच्छा में क्यच् माना है—अन्य को मारने की इच्छा वाले वृक। इसी प्रकार अध्वर्यु में भी पर के अध्वर की इच्छा करनेवाले को अध्वर्यु जानना चाहिये। अथवा यास्क के **अध्वरं युनक्ति** (निरुक्त १।८) निर्वचन के अनुसार अध्वरपूर्वक युज धातु से 'डु' प्रत्यय जानना चाहिये। अथवा **अध्वरं याति**=अध्वर को प्राप्त होता है, इस अर्थ में औणादिक **मृगय्वादयश्च** (उ० १।३४) से **मृगं याति**=**मृगयु** के समान अध्वर उपपद होने पर 'या' धातु से कु प्रत्यय मानना चाहिये। अध्वर के अकार का लोप सर्वत्र करना ही होगा। **जुह्वा जुहोतीति अविद्यमाना जुहूः क्रियते**—इस का तात्पर्य यह है कि होम के द्वारा अविद्यमान जुहूत्व उत्पन्न किया जाता है। इस समाधान की अपेक्षा ऐसे विषय में महाभाष्यकार द्वारा दिया गया समाधान अधिक उत्तम और स्पष्ट है। उन्होंने **इग्यणः सम्प्रसारणम्** (अष्टा० १।१।४५) में यण् के स्थान में इक् होवे तो सम्प्रसारण संज्ञा होवे और सम्प्रसारण संज्ञा होवे तो यण् के स्थान में इक् का विधान किया जाये, इस इतरेतराश्रय का उत्तर दिया है—**भाविनी संज्ञा विज्ञास्यते** (=भावी संज्ञा जानी जायेगी)। जैसे कोई सूत लेकर जुलाहे के पास जाकर कहता है—इस की 'धोती' बना दे। वह जुलाहा सोचता है—यदि धोती है तो क्या बुनूं, यदि बुनना है तो यह धोती नहीं है। वह विचारता है कि इसका तात्पर्य यह है कि इस सूत को इस प्रकार बुनो जिससे बुनने पर इस का धोती नाम होवे। इसी प्रकार जुहू संज्ञा भी भाविनी संज्ञा है। ऐसा पात्र जिससे होम करने पर उस का जुहू नाम होवे ॥३३॥

पक्षेणेति चेत् ॥ ३४ ॥(आ०)

एवं चेन्मन्यसे, यथोक्तपक्षेणैतदेवमुच्येत । अवयुत्यवादपक्षेण सप्तदशर्त्विज इति । तत् परिहर्त्तव्यम् ॥३४॥

न सर्वेषामनधिकारः ॥ ३५ ॥ (आ०नि०)

नैतदेवम् । नात्र सर्वेषां पुरुषाणां वचनं, यानधिकृत्य अवयुत्यवादो भविष्यति । यत्र परा सङ्ख्या कीर्त्यते तत्राऽवयुत्यवादो भवति । यथा द्वादशकपाले **यदष्टाकपालो भवति**[1] इति । न चेह परा सङ्ख्या कीर्त्यते । तस्मान्नाऽवयुत्यवाद इति ॥३५॥ **ऋत्विग्गतिनाम्नोऽसर्वगामिताधिकरणम् ॥१६॥**

पक्षेणेति चेत् ॥३४॥

सूत्रार्थः—अवयुत्ववादरूप (पक्षेण) पक्ष से सप्तदश ऋत्विग् (इति चेत्) होवें तो।

व्याख्या—यदि ऐसा मानते हो कि यथोक्त पक्ष से इस प्रकार कहा जावे अवयुत्व पक्ष से सत्रह ऋत्विक् होते हैं। उसका परिहार करना चाहिये।

विवरण – **यथोक्तपक्षेण** – ३३ वें सूत्र के भाष्य में उक्त पक्ष से। इसे ही स्पष्ट किया है—**अवयुत्ववादपक्षेण**······से ॥३४॥

न सर्वेषामनधिकारः ॥३५॥

सूत्रार्थः—(न) यहां अवयुत्व पक्ष नहीं है। क्योंकि ज्योतिष्टोम में विद्यमान (सर्वेषाम्) सब पुरुषों का ऋत्विक्त्व में (अनधिकारः) अधिकार नहीं है।

व्याख्या—ऐसा नहीं है। यहां सब पुरुषों का [ऋत्विक्त्व को कहने वाला] वचन नहीं है, जिनको अधिकृत करके अवत्युववाद होवे। जहां अन्य बड़ी संख्या संकीर्तित होती है वहां अवयुत्ववाद होता है। जैसे द्वादश कपाल में यदष्टाकपालो भवति (=जो अष्टाकपाल होता है)। यहां अन्य बड़ी संख्या संकीर्तित नहीं है [जिस में से सप्तदश ऋत्विजो भवन्ति को पृथक् करके कहा जाये] इसलिये यहां अवयुत्ववाद नहीं है।

विवरण—**यथा द्वादशकपाले यदष्टाकपालो भवति** —इससे मीमांसा १।४। अधि० ११ (सूत्र १७-२२) के भाष्य में उद्धृत वचनों की ओर संकेत है। वे हैं—**वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते··· यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति [यन्नवकपालो भवति ···—यद्दशकपालो भवति······यदेकादशकपालो भवति·· यद् द्वादशकपालो भवति····· तै० सं० २।२।५]**। यहां पर द्वादशकपाल संख्याश्रुत है, उसके अन्तर्गत विद्यमान अन्य अष्टाकपाल नवकपाल दशकपाल एकादशकपाल संख्याओं का निर्देश करके जो फलविशेष का कथन है, वह अवयुत्ववाद से हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

---

१. तै० सं० २।२।५॥

[दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशर्त्विक्त्वाधिकरणम् ॥१७॥]

सप्तदश ऋत्विज इति समधिगतम्। कतमे ते सप्तदश इति इदं चिन्त्यते। किं प्राप्तम् ? अज्ञानम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥ ३६ ॥ (उ०)

दक्षिणासम्बन्धेन नियम्येरन्। एवं ह्याम्नायते—**ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति**[1] इति। एवमभिधाय दक्षिणादानक्रमपरे वाक्ये ब्रह्मादयः श्रूयन्ते। **अग्नीधेऽग्रे ददाति** इति, **ततो ब्रह्मणे, ततोऽमुष्मै च अमुष्मै च**[2] इति केचिदेव विशिष्टाः श्रूयन्ते। एवं ये श्रूयन्ते ते तावद् ऋत्विजः। ततोऽभ्यधिका नान्ये भवितुमर्हन्ति। दक्षिणाभिर्नियम इति ॥३६॥

उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥ ३७ ॥ (उ०)

ये ऋत्विजस्ते यजमानाः[4] इत्येवमभिधाय ब्रह्मादीनां दीक्षाक्रमपरे च वाक्ये दीक्षां

व्याख्या—सत्रह ऋत्विक होते हैं, यह जाना गया। वे सत्रह ऋत्विक् कौन से हैं, यह विचार किया जाता है। क्या प्राप्त होता है ? अज्ञान (=ज्ञात नहीं होता कौन से हैं)। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(श्रुतिसंयोगात्) दक्षिणासंम्बन्धी श्रुति के साथ संबन्ध होने से (दक्षिणाभिः) दक्षिणाओं के सम्बन्ध से (तु) ही (नियमः) नियम होता है।

व्याख्या—दक्षिणा के सम्बन्ध से नियमित होवें। ऐसा पढ़ा जाता है—ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति (=ऋत्विजों को दक्षिणा देता है)। ऐसा कह कर दक्षिणादान के क्रमपरक वाक्य में ब्रह्मादि सुने जाते हैं—अग्नीधेऽग्रे दक्षिणां ददाति (=अग्नीत् को पहले दक्षिणा देता है) ततो ब्रह्मणे (=तदनन्तर ब्रह्मा को) तत्पश्चात् अमुक को, तत्पश्चात् अमुक को, इस प्रकार कतिपय विशिष्ट व्यक्ति सुने जाते हैं। इस प्रकार जो सुने जाते हैं, वे ऋत्विक् हैं। उन से अधिक अन्य नहीं हो सकते। इस प्रकार दक्षिणा से नियम जाना जाता है। ॥३६॥

उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥३७॥

सूत्रार्थः—ये ऋत्विजस्ते यजमानाः=जो ऋत्विक् हैं, वे यजमान हैं। (च) और इस प्रकार ऋत्विजों का (यजमानत्वम्) यजमानत्व (उक्त्वा) कह कर (तेषाम्) उनकी (दीक्षाविधानात्) दीक्षा का विधान करने से १७ संख्या जानी जाती है।

व्याख्या—ये ऋत्विजस्ते यजमानाः (=सत्र में जो ऋत्विक् हैं वे यजमान हैं) इस

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. मै० सं० ४।८।३॥
३. द्र०—ब्रह्मणे ददाति ……ऋत्विग्भ्यो ददाति। मै० सं ४।८।३॥
४. अनुपलब्धमूलम्।

दर्शयति। कथम्? अध्वर्युं गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारं, ततो होतारम्। ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा अर्द्धिनो दीक्षयति—ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारम् उद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः। ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति—आग्नीध्रं ब्रह्मणः, प्रतिहर्त्तारम् उद्गातुः, अच्छावाकं होतुः। ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पादिनो दीक्षयति—पोतारं ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यम् उद्गातुः, ग्रावस्तुतं होतुः। ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति, ब्रह्मचारी वाचार्यप्रेषित इति। दीक्षा च यजमानसंस्कारः। तस्माद् ब्रह्मादय ऋत्विजः सप्तदश इति ॥३७॥ दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशर्त्विक्त्वाऽधिकरणम् ॥१७॥

—:०:—

[ऋत्विजां स्वामिसप्तदशत्वाधिकरणम् ॥१८॥]

एतदुक्तम्—सप्तदश ऋत्विज इति, ते च ब्रह्मादयः। तत्र सन्देहः—किमेषां

प्रकार कह कर ब्रह्मादि की दीक्षा के क्रमपरक वाक्य में दीक्षा को दर्शाता है। किस प्रकार? अध्वर्युं गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति (=अध्वर्यु गृहपति को दीक्षित करके ब्रह्मा को दीक्षित करता है)। तत उद्गातारं ततो होतारम् (=तत्पश्चात् अध्वर्यु उद्गाता को दीक्षित करता है, तदनन्तर होता को)। ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा अर्धिनो दीक्षयति। ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारमुद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः (=तत्पश्चात् प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु को दीक्षित करके अर्धियों को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के ब्राह्मणाच्छंसी को, उद्गाता के प्रस्तोता को, होता के मैत्रावरुण को)। ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति—अग्नीधं ब्रह्मणः, प्रतिहर्तारम् उद्गातुः, अच्छावाकं होतुः (=तदनन्तर नेष्टा प्रतिप्रस्थाता को दीक्षित करके तृतीयियों को दीक्षित करता है ब्रह्मा के अग्नीत् को, उद्गाता के प्रतिहर्ता को, होता के अच्छावाक को)। ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पादिनो दीक्षयति—पोतारं ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यमुद्गातुः, ग्रावस्तुतं होतुः (=तदनन्तर उन्नेता नेष्टा को दीक्षित कर के पादियों को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के पोता को, उद्गाता के सुब्रह्मण्य को, होता के ग्रावस्तुत को)। ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति ब्रह्मचारी वाचार्यप्रेषितः (=तदन्तर अन्य ब्राह्मण अथवा आचार्य द्वारा प्रेषित ब्रह्मचारी उन्नेता को दीक्षित करता है)। दीक्षा यजमान का संस्कार है। इसलिये ब्रह्मादि ऋत्विक् सत्रह होते हैं।

विवरण—भाष्यकार द्वारा उद्धृत ब्राह्मण पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। इसी पाठ का समानार्थक पाठ शतपथ १२।१।१।१—१० तथा गोपथ पू० ४।१—६ तक मिलता है। ब्राह्मण पाठगत अर्धिनः तृतीयिनः पादिनः की व्याख्या पूर्व पृष्ठ १०६८ पर विवरण में देखें ॥३७॥

—:०:—

व्याख्या—यह कह चुके सत्रह ऋत्विक् होते है और वे ब्रह्मा आदि हैं। उसमें सन्देह होता है—क्या इन में सत्रहवां सदस्य होता है, अथवा गृहपति? क्या प्राप्त होता है? सत्रहवां सदस्य

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—शत० ब्रा० १२।१।१।१—१०; गोपथ पू० ४।१—६॥

सदस्यः सप्तदशः, उत गृहपतिः ? किं तावत् प्राप्तम् ? सदस्य इति । स हि कर्म्मकरः, इतरः स्वामी । यश्च कर्म्मकरः स परिक्रेतव्यः । ऋत्विजश्च परिक्रीयन्ते । तस्माद् सदस्यः सप्तदश ऋत्विगिति । अपि च, तस्य चमसमामनन्ति वरणं च । ऋत्विग् वरीतव्यो न स्वामी । तस्मात् सदस्यः सप्तदश इति प्राप्ते, उच्यते—

स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ॥ ३८ ॥ (उ०)

स्वामी एषां सप्तदशः स्यात् ? कुतः । कर्म्मसामान्यात् । यज्ञे कर्त्तार ऋत्विजो भवन्ति । यज्ञे च कर्त्ता गृहपतिः, तस्माद् ऋत्विक्, यज्ञकर्म्मसामान्यात् । यदुक्तम्—तं समामनन्ति, तस्य चमसमामनन्ति वरणं च । तस्मात् सदस्यः सप्तदश इति । उच्यते । ब्रह्माणमेव ते समामनन्ति, वरणमपि चमसश्च ब्रह्मण एव । स हि सदसि भवः । तस्मात् स्वामिसप्तदशाः ॥३८॥

होता है । वह कर्मकर है, अन्य (=गृहपति) स्वामी है । जो कर्मकर होता है वह परिक्रय के योग्य होता है । ऋत्विजों का परिक्रय होता है । इस कारण सदस्य सत्रहवां ऋत्विक् है । और भी, उस (=सदस्य) का चमस भी कहा है और वरण भी । ऋत्विक् वरने योग्य होता है, न कि स्वामी । इसलिये सदस्य सत्रहवां होता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—तस्य चमसमामनन्ति—पूर्व मी० भाष्य ३।५ अधि० ७ (सूत्र १२), ३।५ अधि० ८ (सूत्र २३) तथा ३।५ अधि १२ (सूत्र ३३) के आरम्भ में **प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्रयजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानाम्** (कात्या० श्रौत ९।११।३) वचन उद्धृत किया है। इसमें सदस्य के चमस का निर्देश मिलता है । **वरणं च**—सदस्य का वरण आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १०।१।८—९ में अध्वर्यु आदि का वरण कह कर १०वें सूत्र में कहा है—**सदस्यं सप्तदशं कौषीतकिनः समामनन्ति** (=कौषीतकि शाखावाले सत्रहवें सदस्य को कहते हैं) । इस पर रुद्रदत्त ने लिखा है—सप्तदश वचन से सदस्य भी ऋत्विक् के धर्मों को अर्थात् वरणादि धर्मों को प्राप्त करता है । वाजसनेयियों के यहां सदस्य नहीं होता हैं, यह हम पूर्व पृष्ठ ९६४ पर लिख चुके हैं ॥३७॥

स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थः—(स्वामिसप्तदशाः) स्वामी है सत्रहवां जिनमें अर्थात् स्वामी ही सत्रहवां होता है, (कर्मसामान्यात्) कर्म के सामान्य होने से । यज्ञ में ऋत्विक् जैसे कर्म करते हैं उसी प्रकार यजमान भी यज्ञ में कर्म करता है ।

व्याख्या—**स्वामी** (=गृहपति) इनमें सत्रहवां होवे । किस हेतु से ? कर्म के सामान्य होने से । यज्ञ में ऋत्विक् कर्म करने वाले होते हैं, और यज्ञ में गृहपति भी कर्त्ता है । इसलिये वह ऋत्विक् है । यज्ञ कर्म के सामान्य होने से । जो यह कहा—सदस्य का मन्त्र में समाम्नान किया है, उस का चमस पढ़ा है और उसका वरण भी होता है । इस कारण सदस्य सत्रहवां होता है । इस विषय में कहते हैं—ब्रह्मा का ही वे समाम्नान करते हैं । वरण और चमस भी ब्रह्मा का ही है । वही सदः में होने वाला होता है । इस कारण स्वामी जिन में सत्रहवां है ऐसे ऋत्विक् होते हैं ।

[आध्वर्यवादीष्वध्वर्य्वादीनां कर्तृतानियमाधिकरणम् ॥२०॥]

[अग्नेः प्रकृतिविकृतिसर्वार्थतानामावान्तराधिकरणम् ॥ १९॥]

स्वामिसप्तदशा ज्योतिष्टोमस्य ऋत्विजः समधिगताः। अत्रेदानीमयं सन्देहः—किं सर्वं पुरुषकार्य्यं तैः कार्य्यम्, अग्निभिश्च गार्हपत्यादिभिरग्निकार्य्यम्, उत काचिद् व्यवस्थेति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात् ॥ ३९ ॥ (पू०)

ते वृताः सर्वस्मै पुरुषकार्य्याय स्युः। अग्नयश्चाग्निकार्य्याय। कुतः ? तैः काय्य-

---

विवरण—पूर्व अधिकरणों में जैसे सोम-विक्रयी के विक्रयरूप कर्म का ज्योतिष्टोम में अभाव होने से उस को ऋत्विजों से पृथक् कहा है (द्र०-३।७ अधि० १५) और चमसाध्वर्युवों शमिता और उपगाताओं का उत्पत्ति (=वरण वाक्य) में श्रवण न होने से उनकी ऋत्विजों से पृथक्ता कही है (द्र०-३।७ अधि० १०, १३, १४), इसी प्रकार यहां भी सदस्य के कृताकृतपर्यवेक्षण कार्य (द्र०—आप० श्रौत १०।११ स कर्मणामुपद्रष्टा) का ज्योतिष्टोम में निर्देश न होने से वह ज्योतिष्टोम का अङ्ग नहीं है। अतः वह सत्रहवां ऋत्विक् नहीं हो सकता। अतः सूत्रकार और भाष्यकार ने इस अधिकरण में जो विचार किया हैं वह उस शाखा के अनुसार है, जिस में सदस्य का चमस और वरण नहीं होता है।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्वामिसप्तदशत्व का जो निर्णय किया है वह सत्र-विषयक है सामान्य ज्योतिष्टोमविषयक नहीं है। क्योंकि जिस वचन के आधार पर पूर्व अधिकरण में सप्तदशर्त्विक्त्व का निर्णय किया है वह सत्र विषयक है। उस में ही यजमान स्थानीय व्यक्ति गृहपति कहाता है। सामान्य ज्योतिष्टोम में १६ ही ऋत्विक् होंगे, १ सदस्य होगा (जिनके मत में सदस्य होता है, उनके यहां) ॥३८॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में स्वामी सत्रहवां है जिनमें, वे ऋत्विक् जाने गये। यहां अब यह सन्देह है कि क्या जितना पुरुष का कार्य है, वह इन को करना चाहिये और गार्हपत्य आदि अग्नियों से सब अग्नि कार्य करना चाहिये अथवा कोई व्यवस्था है ? क्या प्राप्त होता है ?

ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वात् अग्नयश्च स्वकालत्वात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(ते) वे ऋत्विक् (प्रयुक्तत्वात्) वरण के द्वारा कर्म करने के लिये प्रयुक्त होने से (सर्वार्थाः) सब कामों के लिये हैं। और (अग्नयः) अग्नियां (च) भी (स्वकालत्वात्) अपने समय वाली होने से सम्पूर्ण अग्नि कार्य के लिये हैं।

व्याख्या—वे वरण किए गये ऋत्विक् सब कामों के लिए होवें और अग्नियां भी सब अग्निसम्बन्धी कार्यों के लिए होवें। किस हेतु से ? उन कार्यों के द्वारा आकाङ्क्षित होने से। इन

राकाङ्क्षितत्वात् । प्रति स्वं ग्रहणमेषामनुवादः, स्वकालत्वादग्नयश्च सर्वार्था इति समधिगतमेतत्[1] ॥३९॥ **अग्नेः प्रकृतिविकृतिसर्वार्थताधिकरणम्** ॥१९॥ **आध्वर्यवादिष्वध्वर्य्वादीनां कर्तृतानियमाधिकरणस्य** पूर्वपक्षमात्रम् ॥

का प्रतिस्व ग्रहण (=प्रत्येक का पृथक् पृथक् निर्देश) **अनुवाद है । स्वकाल वाली होने से अग्नियां सर्वार्थ हैं, यह जाना गया है । (द्र० मी० ३।६।१५) ।**

विवरण – स्वकालत्वादग्नयश्च सर्वार्था इति समधिगतम्—यह विषय पूर्व अ० ३ पाद ६ सूत्र १५ में कहा है

विशेष—आहवनीय आदि अग्नियां स्वकाल विहित होने से प्रकृति विकृति रूप सब यागों के लिये हैं यह पूर्व मी० ३।६।१५ में कह चुके। उसी विषय का यहां पुनः कथन पिष्टपेषणवत् है । **अग्नयश्च स्वकालत्वात्** —इस सूत्रांश के विषय में भट्ट कुमारिल ने बहुत कुछ विचार किया है । इस की अनावश्यकता का भी प्रतिपादन किया है । फिर भी अन्त में 'आहवनीयादि अग्नियां अनारभ्याधीत विधियों के समान प्रकृतिगामी हैं, ऐसा पूर्व पक्ष कह कर अग्नियों के स्वकाल का विधान होने से वे प्रकृति विकृति सर्वार्थ हैं, ऐसा सिद्धान्त दर्शाया है । प्रायः सभी व्याख्याकारों ने इस विषय को यहीं समाप्त करके 'ऋत्विजों की सर्वार्थतारूप' पूर्वपक्ष का उत्तर सूत्रों से समाधान किया है ।

इस विषय में हमें दो विचार सूझे हैं । एक—'ऋत्विजों के सर्वार्थत्व' में अग्नियों का सर्वार्थत्व दृष्टान्तरूप है । इस में 'च' पद असमर्थित रहता है । दूसरा—जैसे ऋत्विजों का सर्वार्थत्व है उसी प्रकार आहवनीय आदि अग्नियां भी होम याग श्रपण आदि सभी कार्यों के लिये हैं । यह अग्निविषयक पूर्वपक्ष यहां कहा है । इस की पुष्टि भाष्यकार के **अग्निभिश्च गार्हपत्यादिभिः अग्निकार्यम् उत काचिद् व्यवस्थेति'** कथन से होती है । भाष्यकार ने अग्निविषयक पूर्वपक्ष उपस्थित करके सिद्धान्त सूत्रों में इस की कोई चर्चा नहीं की है । हमारा विचार है कि जैसे ऋत्विजों के विषय में कर्म व्यवस्था अगले सूत्रों से कही है उसी प्रकार अग्नियों के विषय में भी कर्म की व्यवस्था कहनी चाहिये—'यह कर्म आहवनीय अग्नि में हो; यह गार्हपत्य में और यह दक्षिणाग्नि में' **आहवनीये जुहोति, गार्हपत्ये ऽधिश्रयति, दक्षिणाग्नौ अन्वाहार्यं पचति** इत्यादि वाक्यों से आहुति कर्म आहवनीय में, दुग्धादि का श्रपण गार्हपत्य में और अन्वाहार्य (=दर्शपूर्णमास में दक्षिणारूप चार पुरुषों के भोजन योग्य ओदन) का पाक दक्षिणाग्नि में व्यवस्था से होता है । यह सिद्धान्त वर्णनीय है (जिस का भाष्यकार आदि ने उल्लेख नहीं किया) । इस प्रकार अग्नि कार्य भी व्यवस्थित होते हैं, सब कार्य सब अग्नियों में नहीं होते ॥३९॥

---

१. द्र०—मी० ३।६।१५ सूत्रम् ।

[समाख्याप्राप्तकर्तृत्वस्यापि क्वचिद् बाधाधिकरणम् ॥२१॥]

तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात् संयोगस्याऽर्थवत्त्वात् ॥ ४० ॥ (उ०)

तत्संयोगात् विशिष्टपुरुषसंयोगात् व्यवतिष्ठते । ये येन पुरुषेण समाख्यायन्ते, ते तेन कर्त्तव्याः । एवं तेषां पुरुषसंयोगोऽर्थवान् भविष्यति । आध्वर्य्यवमध्वर्युणा, हौत्रं होत्रा, औद्गात्रमुद्गात्रेति ॥४०॥ **आध्वर्यवादिष्वेवाध्वर्य्वादीनां कर्तृतानियमाधिकरणम्॥२०॥**

—:०:—

किमेष एवोत्सर्गः; सर्वं समाख्यातं समाख्यातपुरुषैः कर्त्तव्यमिति ? नेति ब्रूमः—

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥ ४१ ॥

तस्योपदेशाद्विशेषसमाख्यानाच्च निर्देशः । यथोपदेशः—**तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति**

तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात् संयोगस्यार्थवत्वात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—कर्मों का (तत्संयोगात्) समाख्या संज्ञा के द्वारा विशिष्ट पुरुषों के साथ संयोग होने से (कर्मणः) कर्म की (व्यवस्था स्यात्) व्यवस्था होवे । (संयोगस्य अर्थवत्त्वात्) संयोग के अर्थवान् होने से ।

इस सूत्र का भाव यह है कि आध्वर्यव हौत्र औद्गात्र आदि कर्म की संज्ञाएं हैं । अतः जिस ऋत्विक् का जिस कर्म के साथ संयोग है वह कर्म उस ऋत्विक् को करना चाहिये, क्योंकि आध्वर्यव आदि में कहा गया अध्वर्यु आदि का कर्म के साथ संयोग अर्थवान् है । अन्यथा यह संयोग निरर्थक होवे ।

व्याख्या—तत्संयोग=विशिष्ट पुरुष के संयोग से कर्म व्यवस्थित होवे । जो जो कर्म जिस जिस पुरुष से कहे जाते हैं, उन्हें उस को करना चाहिये । इस प्रकार उन कर्मों का पुरुष के साथ संयोग अर्थवान् होगा । आध्यंव कर्म अध्वर्यु को करना चाहिये, हौत्र होता को, औद्गात्र उद्गाता को ॥४०॥

—:०:—

व्याख्या—क्या यही उत्सर्ग (=सामान्य) नियम है कि सब कहा हुआ कार्य कहे गये पुरुषों को ही करने चाहियें ? नहीं, ऐसा कहते हैं—

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥४१॥

सूत्रार्थः—(तस्य) उस कार्य का (उपदेशसमाख्यानेन) उपदेश=कथन और समाख्यान=संज्ञा से [निर्देशः] निर्देश जानना चाहिये । [उपदेशश्च समाख्यानं च उपदेश समाख्यानम्, तेन; समाहारद्वन्द्व है ।]

व्याख्या—उस कर्म का निर्देश उपदेश से और समाख्यान (=संज्ञा) से होता है । जैसे

चानु चाह[1] इति। समाख्या--पोत्रीया नेष्ट्रीया[2] इति। एष समाख्यायाश्चापवाद इति ॥४१॥

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ ४२ ॥

यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवत उपशृणुयाद्[3] इति होत्रे प्रातरनुवाके समाख्यया प्राप्तं होतारं दर्शयति। तथेदमपरं लिङ्गं भवति —उद्गीथ उद्गातॄणाम्, ऋचः प्रणवः उक्थशंसिनां, प्रतिगरो अध्वर्यूणाम्[4] इति समाख्याकृतं भेदं दर्शयति। तथेदमपि लिङ्गं भवति—या वाध्वर्योः स्वं वेद स्ववानेव भवति। एतद् वाध्वर्योः स्वं यदा श्रावयति[5] इति समाख्याकृतं नियमं दर्शयति ॥४२॥ समाख्याप्राप्तकर्तृत्वस्यापि क्वचिद् बाधाधिकरणम् ॥२१॥

उपदेश से —तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह (=मैत्रावरुण प्रैष देता है, और अनुकथन करता है, अर्थात् पुरोऽनुवाक्या बोलता है)। समाख्या से—पोत्रीया नेष्ट्रीया [पोता नेष्टा ऋत्विजों से क्रियमाण कर्म की ये संज्ञाएं हैं]।

विवरण —मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह —प्रैष देना और अनुवाक्या का उच्चारण (द्र० अगले ४४वें सूत्र का भाष्य) में प्रैष देना आध्वर्यव कर्म है, अनुवाक्या का उच्चारण होतृ कर्म है। परन्तु यहां उपदेश=विशेष-निर्देश से इन कार्यों को मैत्रावरुण करता है ॥४१॥

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(तद्वत्) समाख्या से जैसे कर्मों की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार (लिङ्गदर्शनम्) लिङ्ग (च) भी देखा जाता है।

व्याख्या—यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः उपशृणुयात् (=जहां तक होता के प्रातरनुवाक का पाठ करते हुए सुने) इस में प्रातरनुवाक बोलना रूप हौत्र कर्म में [हौत्र] समाख्या से प्राप्त होता को [निर्देशपूर्वक] दर्शाता है। तथा यह अन्य लिङ्ग होता है—उद्गीथ उद्गातॄणाम्, ऋचः प्रणव उक्थशंसिनाम्, प्रतिगरोऽध्वर्यूणाम् (= साम की पांच भक्तियों में] उद्गीथ उद्गाताओं का, ऋक् का प्रणव उक्थशंसियों=होताओं का, प्रतिगर अध्वर्युवों का) यह वचन भी समाख्या से किये गये कर्मभेद को दर्शाता है। तथा यह अन्य लिङ्ग होता है—यो ह वाध्वर्योः स्व वेद स्ववानेव भवति। एतद् वा अध्वर्योः स्वं यदा श्रावयति (=जो अध्वर्यु के स्व को जानता है, वह स्ववान् होता है। यह ही अध्वर्यु का स्व है, जो आश्रावण करता है,='ओ३ श्रा३वय' बोलता है)। यह समाख्या से किये गये नियम को दर्शाता है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।
२. द्र०—अपचितिः पोत्रीयामयजत् नेष्ट्रीयामयजत् हिवषिः। तै० ब्रा० ३।१२।६।३॥
३. मानव श्रौत २।३।२।१४॥ आप० श्रौत १२।५।५ किञ्चिद् भेदेन।
४. अनुपलब्धमूलम्। ५. अनुपलब्धमूलम्।

[समुच्चितयोः प्रेषानुवचनयोर्मैत्रावरुणकर्तृकत्वाधिकरणम् ॥२२॥

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते[1] इति। तत्रेदं समामनन्ति—तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह इति[2]। तत्र संशयः—किं सर्वानुवचनेषु सर्वप्रैषेषु च मैत्रावरुणः स्याद्, उत यत्रानुवचने प्रैष इति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

विवरण—यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः—ज्योतिष्टोम में ५वें सुत्या के दिन पक्षियों के कलरव करने से पूर्व होता प्रातरनुवाक संज्ञक मन्त्रों का पाठ करता है। उक्त वचन का पूरा पाठ इस प्रकार है—**यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवत उपशृणुयात् तदपोऽध्वर्युर्वहतीनां गृह्णीयात्। यदि दूरे स्युश्चात्वालान्ते गृह्णीयात्** (मानव श्रौत २।३।२।१४)। तथा **यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः उपशृणुयुस्तदपो ऽध्वर्युर्वहन्तीनां गृह्णाति। यदि दूरे स्युः प्रत्युद्दृह्य गृह्णीयात्** (आप० श्रौत० १२।५।५,७)। इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अध्वर्यु के द्वारा वहन्ती=बहनेवाले नदी नालों का जल ग्रहण करना होता है। उस विषय में कहा है कि होता के उच्चैः प्रातरनुवाक के पाठ करते हुए जहां तक प्रातरनुवाक का शब्द सुनाई पड़े वहां तक के बहने वाले नदी नालों का जल अध्वर्यु ग्रहण करे। यदि नदी-नाले दूर हों तो नदी नालों का जल लाकर पहले से उस स्थान में अथवा चात्वाल के समीप में रखे। उन जलों से अध्वर्यु जल ग्रहण करे। **उक्थशंसीनाम्**—उक्थ=स्तोत्रों का शंसन होता करता है। बहुवचन से यहां होतृगण के ऋत्विक् अभिप्रेत हैं। **एतद्वा अध्वर्योः स्वं यदाश्रावयति**—श्रौत यज्ञों में **ओ३ श्रा३वय, अस्तु श्रौ३षट्, यज, ये३ यजामहे, वौ३षट्** ये पांच भाग होते हैं। इन में क्रमशः ४+४+२+५+२=१७ अक्षर होते हैं। इसके लिए कहा है—**एष वै सप्तदशाक्षरः छन्दस्यः प्रजापतिर्यज्ञमनुविहितः** (=यह १७ अक्षरों वा वेद में होने वाला अक्षरसमूह रूप प्रजापति यज्ञ में विहित है) [महाभाष्य ४।४।१४० में उद्धृत]। इन में से **ओ३श्रा३वय** वचन अध्वर्यु बोलता है, **अस्तु श्रौ३षट्** अग्नीत् कहता है, देवता का निर्देश करते हुए **यज** ऐसा अध्वर्यु प्रैष देता है। **ये यजामहे** वचन होता बोलकर जिस मन्त्र से आहुति देनी होती है, उस मन्त्र का पाठ करता है, और मन्त्र के अन्त में **वौ३षट्** बोल कर आहुति देता है ॥४२॥

—:o:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु है**—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते** (=जो दीक्षित अग्नीषोमीय पशु का आलभन करता है)। उस में यह पढ़ते हैं—तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह (=इसलिये मैत्रावरुण प्रैष देता है और अनुवचन करता है। अनुवचन=पुरोऽनुवाक्या पढ़ता है)। इस में सन्देह है—क्या सब अनुवचनों में और सब प्रैषों में मैत्रावरुण होवे अथवा जहां अनुवचन के विषय में प्रैष है ? क्या प्राप्त होता है ?

---

१. तै० सं० ६।१।११॥

२. अनुपलब्धमूलम्।

प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥ ४३ ॥ (पू०)

सर्वाऽनुवचनेषु, अविशेषात् । न हि कश्चिद्विशेष आश्रीयते—अस्मिन्ननुवचने मैत्रावरुणोऽस्मिन्नेति । तस्मात् सर्वानुवचनेषु सर्वप्रैषेषु च मैत्रावरुणः स्यात् ॥४३॥

पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥ ४४ ॥ (उ०)

पुरोऽनुवाक्यां वा मैत्रावरुणोऽनुब्रूयात् । कुतः ? यत्र प्रैषश्चानुवाक्या च सहोच्येते तत्र मैत्रावरुणः । यत्र केवलानुवाक्या न तत्र मैत्रावरुणः, यत्र वा केवलः प्रैषस्तत्रापि न । यत्रोभे समुच्चीयेते, तत्र स भवेत् । तथा हि समुच्चितयोस्तं समामनन्ति—**तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चाऽनु चाह** इति । चशब्दात् समुच्चितयोरिति गम्यते ॥४४॥

प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥ ४५ ॥ (उ०)

इतश्च पश्यामो न सर्वानुवचनेषु मैत्रावरुण इति । कुतः ? यतः प्रातरनुवाके

प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(प्रैषानुवचनम्) प्रैष और अनुवचन (मैत्रावरुणस्य) मैत्रावरुण का कर्म है (उपदेशात्) **तस्मान्मैत्रावरुणो प्रेष्यति चानु चाह** वचन से कथित होने से ।

व्याख्या—**सब अनुवचनों में** [**मैत्रावरुण** होता है] **विशेष का कथन न होने से । किसी विशेष का आश्रय नहीं किया जाता है कि इस अनुवचन में मैत्रावरुण होता है, इसमें नहीं होता । इस लिये सब अनुवचनों में और सब प्रैषों में** मैत्रावरुण होता है ॥४३॥

पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥४४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'सब प्रैष और अनुवचन मैत्रावरुण का कर्म है' पक्ष की निवृत्ति के लिए है । (प्रैषसन्निधानात्) प्रैष की समीपता से (पुरोऽनुवाक्याधिकारः) पुरोऽनुवाक्या का अधिकार मैत्रावरुण को है ।

व्याख्या—**मैत्रावरुण** पुरोऽनुवाक्या को ही **बोले । किस हेतु से ? जहां प्रैष और अनुवाक्या साथ** कही जाती हैं, **वहां मैत्रावरुण अधिकृत होता है । जहां केवल अनुवाक्या होती है, वहां मैत्रावरुण अधिकृत नहीं होता है, और** जहां **केवल प्रैष है, वहां भी नहीं होता । जहां दोनों समुच्चित होते हैं, वहां मैत्रावरण अधिकृत होवे । उसी प्रकार समुच्चित के विषय में उसे पढ़ते हैं**—तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाहेति ॥४४॥

प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥४५॥

सूत्रार्थः—(प्रातरनुवाके) प्रातरनुवाक में (होतृदर्शनात्) होता **का दर्शन होने से** (च) भी ।

व्याख्या—**इस से भी जानते हैं कि सब अनुवचनों में मैत्रावरुण नहीं होता है । किस**

होतारं दर्शयति। कथम्? यत्र होतुः प्रारनुवाकमनुब्रुवत उपशृणुयात्[1] तदाध्वर्युर्गृह्णीयाद्[2] इति। तस्मान्न सर्वानुवचनेषु मैत्रावरुण इति ॥४५॥ समुच्चितयोः प्रैषानुवचनयोर्मैत्रावरुण-कर्तृकत्वाधिकरणम् ॥२२॥

—:o:—

[चमसहोमेऽध्वर्य्वोः कर्तृताधिकरणम् ॥२३॥]

सन्ति चमसाध्वर्यवस्तेषु सन्देहः—किं चमसाध्वर्यवश्चमसाञ्जुहुयुरुताध्वर्युरिति ?

चमसांश्चमसाध्वर्य्यवः समाख्यानात् ॥ ४६ ॥ (पू०)

चमसाध्वर्यव इति ब्रूमः। कस्मात्? चमसेषु आध्वर्यवं ते कुर्वन्तीति चमसाध्वर्यवः। तस्मात्ते जुहुयुरिति ॥४६॥

हेतु से? जिस कारण प्रातरनुवाक में होता को दिखाता है। कैसे? होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवत उपशृणुयात् तदाध्वर्युर्गृह्णीयात् (= जहां तक होता के प्रातरनुवाक को पढ़ते हुए का शब्द सुने वहां से अध्वर्यु वहन्ती संज्ञक जलों को ग्रहण करे)। इस कारण सब अनुवचनों में मैत्रावरुण अधिकृत नहीं है।

विवरण—तदाध्वर्युर्गृह्णीयात्—यह अंशतः अनुवाद प्रतीत होता है। इस वाक्य का पूरा पाठ पूर्व ४२वें सूत्र की व्याख्या के विवरण में उद्धृत किया है। उसी के अनुसार व्याख्या में हमने उल्लेख किया है ॥४५॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में चमसाध्वर्यु हैं। उनमें सन्देह है—चमसों का होम चमसाध्वर्यु करें अथवा अध्वर्यु?

चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥४६॥

सूत्रार्थः—(चमसान्) चमसों का होम (चमसाध्वर्यवः) चमसाध्वर्यु करें। (समाख्यानात्) चमसाध्वर्यु ऐसा नाम होने से।

व्याख्या—चमसों का चमसाध्वर्यु होम करें, ऐसा कहते हैं। किस हेतु से? चमसों में जो आध्वर्यव (=अध्वर्यु के कर्मों को) करते हैं, वे चमसाध्वर्यु होते हैं। इस कारण चमसाध्वर्यु होम करें ॥४६॥

---

१. मानव श्रौत २।३।२।१४ ॥ आप० श्रौत १२।५।५ किञ्चिद् भेदेन।

२. अयमंशोऽर्थत उदाहृतः स्यात्। द्र०—तदपोऽध्वर्युर्वहतीनां गृह्णीयात्। मानव श्रौत २।३।२।१४॥ तथा तदपोऽध्वर्युर्वहन्तीनां गृह्णाति। आप० श्रौत १२।५।५॥

अध्वर्य्युर्वा तन्न्यायत्वात् ॥ ४७ ॥ (उ०)

अध्वर्युर्वा जुहुयात्। एष हि न्यायः। यदाध्वर्यवपदार्थमध्वर्युः कुर्याद्, आध्वर्यवश्च होमः। तस्मादध्वर्युर्जुहुयात्। ननु चमसाध्वर्यव इति विशेषसमाख्यानाच्चमसाध्वर्यवो होष्यन्तीति। नेत्युच्यते। चमसेष्वेतेऽध्वर्युवद्भवन्तीति चमसाध्वर्यवः। यदि तैरध्वर्य्युर्जुहोति, ततस्तैश्चमसाध्वर्युभिरपि होतव्यम्। यदि चमसाध्वयवो जुह्वति, नाध्वर्युस्तदा ते न तद्वत् स्युश्चमसाध्वर्यवः। तस्मान्न जुहुयुरिति ॥४७॥

चमसे चान्यदर्शनात् ॥ ४८ ॥ (उ०)

चमसे चान्यं चमसाध्वर्योर्दर्शयति। कथम्? चमसांश्चमसाऽध्वर्यवे प्रयच्छति, तान् स वषट्कर्त्रे हरति[1], अन्यो हुत्वा चमसाध्वर्य्यवे प्रयच्छतीति गम्यते। कथम्? स वषट्कर्त्रे हरति,[2]

अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् ॥४७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष 'चमसों का चमसाध्वर्यु होम करें' की निवृत्ति के लिए है। चमसों से (अध्वर्युः) अध्वर्यु होम करे। (तन्न्यायत्वात्) उस के न्याय्य होनेसे अर्थात् होम कर्म अध्वर्यु के द्वारा ही किया जाता है इस कारण से।

व्याख्या—अध्वर्यु ही चमसों से होम करे। यही न्याय है कि जो अध्वर्यु से किये जाने वाले पदार्थ को अध्वर्यु करे। होम अध्वर्यु से क्रियमाण कर्म है, इस कारण अध्वर्यु चमसों का होम करे। (आक्षेप) चमसाध्वर्यु ऐसी विशेष संज्ञा होने से चमसाध्वर्यु होम करेंगे? (समाधान) 'नहीं' ऐसा हम कहते हैं। चमसों में ये अध्वर्यु के समान होते हैं, इस लिये चमसाध्वर्यु कहाते हैं। यदि उन चमसों से अध्वर्यु होम करता है तो उन चमसों से चमसाध्वर्युवों को भी होम करना चाहिये। यदि चमसों से चमसाध्वर्यु होम करते हैं, अध्वर्यु नहीं करता है, तो वे चमसाध्वर्यु उस (=अध्वर्यु) के समान न होवें। इस कारण चमसाध्वर्यु चमसों से होम न करें ॥४७॥

चमसे चान्यदर्शनात् ॥४८॥

सूत्रार्थः—(चमसे) चमस में (अन्यदर्शनात्) चमसाध्वर्यु से अन्य का दर्शन होने से (च) भी चमसाध्वर्यु होम न करें।

विशेष—यहां चकार भिन्नक्रम=अस्थान में है। चमसे ऽन्यदर्शनाच्च ऐसा सम्बन्ध जानना चाहिये। द्र०—कुतुहल वृत्ति

व्याख्या—चमस में चमसाध्वर्यु से अन्य को दिखाता है। कैसे? चमसांश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति तान् स वषट्कर्त्रे हरति (=चमसों को चमसाध्वर्यु को देता है, वह उन चमसों को वषट्कर्त्ता को देता है) इस से अन्य व्यक्ति चमसों का होम करके चमसाध्वर्यु को देता है, ऐसा

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

भक्षयितुमिति गम्यते। तस्माद् हुतस्य चमसाध्वयवे प्रदानम्। यो जुहोति, स प्रयच्छति। तस्मादन्यो जुहोतीति। अपिच—यो वाऽध्वर्योः स्वं वेद स्ववानेव भवति। स्रुग्वा अध्वर्योः स्वं वायव्यमस्य स्वं चमसोऽस्य स्वम्' इति। न तावदस्य चमसः स्वम्। यजमानस्य हि सः। चमसोऽस्य स्वमिति ब्रुवन्नध्वर्योश्चमसेन होमं दर्शयति॥४८॥

अथ कथं चमसाध्वर्यव इति समाख्यानम्। उच्यते—

अशक्तौ ते प्रतीयेरन्॥ ४९ (उ०)

यदा व्यापृतत्वान्न शक्नोति अध्वर्युर्होतुं तदा समाख्यासामर्थ्यात्ते होष्यन्ति॥४९॥ **चमसहोमेऽध्वर्योः कर्तृताधिकरणम्॥२३॥**

—:०:—

[श्येनवाजपेययोरनेककर्तृताधिकरणम्॥२४॥]

अस्ति औद्गात्रे समाख्यातः श्येनः, आध्वर्यवे वाजपेयः। तत्र सन्देहः किं श्येने

जाना जाता है। इसी प्रकार वह (=चमसाध्वर्यु) वषट्कर्त्ता को देता है 'भक्षण के लिए' ऐसा जाना जाता है। इस कारण हुतचमस का चमसाध्वर्यु को देना कहा है। जो होम करता है, वह देता है। इस हेतु से चमसाध्वर्यु से अन्य होम करता है, ऐसा जाना जाता है। और भी, यो वा ऽध्वर्योः स्वं वेद स्ववान् भवति। स्रुग्वा अध्वर्योः स्वं वायव्यमस्य स्वं चमसो ऽस्य स्वम् (=जो निश्चय से अध्वर्यु के स्व को जानता है, वह स्ववान् होता है। स्रुक् ही अध्वर्यु का स्व है, वायु देवता वाला ग्रह इस का स्व है, चमस इसका स्व है)। इस (अध्वर्यु) का चमस स्व नहीं है, वह यजमान का स्व है। अतः 'चमस इस का स्व है' ऐसा कहता हुआ वचन अध्वर्यु का चमस से होम को दर्शाता है॥४८॥

व्याख्या—[चमसों से अध्वर्यु के होम करने पर] चमसाध्वर्यु यह नाम कैसे होगा? इस विषय में कहते हैं—

अशक्तौ ते प्रतीयेरन्॥४९।

सूत्रार्थः—अध्वर्यु के कर्मान्तर में व्यापृत होने से चमसों से होम में (अशक्तौ) अध्वर्यु के अशक्त होने पर (ते) वे चमसाध्वर्यु (प्रतीयेरन्) होम कर्म में जाने जावें।

व्याख्या—जब अध्वर्यु [शुक्र वा मन्थी ग्रह के होम में] व्यापृत होने से चमसों से होम करने में अशक्त होता है, तब संज्ञा के सामर्थ्य से वे चमसाध्वर्यु चमसों से होम करेंगे॥४९॥

—:०:—

व्याख्या—औद्गात्र (=उद्गाता के वेद=सामवेद) में कहा गया श्येन याग और

---

१. तै० सं० ३।१।२॥

उद्गातृभिरेव पदार्थाः कर्त्तव्याः, वाजपेये अध्वर्युभिः, उत उभयत्र नानर्त्विग्भिरिति ? किं प्राप्तम् ?

वेदोपदेशात् पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥ ५० ॥

वेदोपदेशात् । समाख्यानादित्यर्थः । पूर्ववत् । यथा आध्वर्यवमिति समाख्यानात् पदार्थानध्वर्युः करोति, एवमेव वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः । यो येन समाख्याते वेदे उपदिष्टस्तस्य पदार्थास्तेनैव कर्त्तव्याः । साङ्गः स तत्रोपदिश्यते । तस्माच्छ्येने उद्गातृभिर्वाजपेये चाऽध्वर्युभिः पदार्थाः कर्त्तव्या इति ॥५०॥

तद्ग्रहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात् सहाऽङ्गैरव्यक्तः शेषे ॥ ५१ ॥

आध्वर्यव (=यजुर्वेद) में कहा गया वाजपेय याग है । उन में सन्देह होता है—क्या श्येन याग में सब कर्म उद्गाताओं (=उद्गातृगणों) से किये जायें और वाजपेय याग में अध्वर्युवों से अथवा दोनों में नाना ऋत्विजों से कर्म किये जायें ? क्या प्राप्त होता है ?

वेदोपदेशात् पूर्ववद् वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥ ५० ॥

सूत्रार्थः—(वेदोपदेशात्) वेद में उपदेश=विधान होने से (पूर्ववत्) जैसे पहले आध्वर्यव वेद में उपदिष्ट कर्म अध्वर्यु करता है, हौत्र=ऋग्वेद में उपदिष्ट होता करता है । इसी प्रकार (वेदान्यत्वे) अन्य वेद में उपदिष्ट कर्मों को (यथोपदेशम्) उपदेश के अनुसार जिस के वेद में जो कर्म उपदिष्ट है वह उस कर्म को करनेवाले (स्युः) होवें ।

व्याख्या—'वेदोपदेश से' का अर्थ है, वेद की संज्ञा से, पहले के समान । जैसे आध्वर्यव ऐसी यजुर्वेद की संज्ञा होने से [उस वेद के] पदार्थों को अध्वर्यु करता है, इसी प्रकार अन्य वेद में भी यथोपदेश (=जिस ऋत्विक् का जो वेद है, वह उस वेद के) कार्य को करने वाले होवें । जो कर्म जिस के नाम से कहे जाने वाले वेद में उपदिष्ट है, उस वेद के पदार्थ उसे ही करने चाहियें । वहां साङ्ग कर्म उपदिष्ट है । इस लिये श्येन याग में उद्गाताओं से और वाजपेय में अध्वर्युवों से पदार्थ किये जाने चाहियें ॥५०॥

तद्ग्रहणाद्वा स्वधर्मः स्याद् अधिकारसामर्थ्यात् सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ॥ ५१ ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'जिस के वेद में जो कर्म पढ़ा है, उस कर्म को उसे ही करना चाहिये' पक्ष की निवृत्ति के लिए है । (तद्ग्रहणात्) प्राकृत धर्मों के ग्रहण से (स्वधर्मः) अपने अर्थात् अङ्ग समुदाय जिस के हैं, उस श्येन वाजपेय आदि के धर्मों वाला (स्यात्) होवे (अधिकारसामर्थ्यात्) अधिकृत जिस से होता उस चोदक शास्त्र के सामर्थ्य से (सहाङ्गैः) प्रकृति गत दीक्षादि अङ्गों के साथ अध्वर्यु आदि से अनुष्ठेय होते हैं । (शेषे) शेष=जो चोदक शास्त्र से अप्राप्त कर्म कण्टक वितोदन आदि जहां चोदक शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसे (अव्यक्तः) अव्यक्त=जिस के कर्तृत्व की प्रतीति स्पष्ट नहीं होती है, वह समाख्या=औद्गात्र आध्वर्यव आदि संज्ञा से नियमित होता है । अर्थात् अव्यक्त कर्म में समाख्या की प्रवृत्ति होती है ।

तद्ग्रहणात् प्राकृतधर्म्मग्रहणाद् वा स्वधर्म्मः चोदकप्राप्तैः संयुक्तः स्यात् । चोदक-सामर्थ्यात् सहाङ्गैः कुर्यादिति श्रूयते । तानि चाङ्गानि ज्योतिष्टोमे सन्त्यपेक्ष्यन्ते । तत्र ज्योतिष्टोमे नानर्त्विजस्तैरस्य सहैकवाक्यता । ननु प्रत्यक्षा समाख्या, चोदक आनु-मानिकः । उच्यते । सत्यं प्रत्यक्षा समाख्या । लौकिकी तु सा । तत्रानुमाय वैदिकं शब्दं तेनैकवाक्यता स्यात् । चोदकेन पुनर्विप्रकृष्टाधीतया प्रत्यक्षया इतिकर्त्तव्यतया सहैकवा-क्यता । तस्माच्चोदको बलवत्तरः ॥

यत्तूक्तं समाख्यानादिति । तत्रोच्यते । अव्यक्तः शेषे समाख्यातो भविष्यति । यः पदार्थो न चोदकेन प्राप्नोति, तत्र समाख्यया नियमो भविष्यति । यथा श्येने—कण्टकैर्वितुदन्ति[1] इति उद्गातारो वितोत्स्यन्ति, वाजपेये च ऊषपुटैरर्पयन्ति[2] इत्यध्वर्यवोऽर्पयि-

---

व्याख्या—तद्ग्रहण अर्थात् प्राकृत धर्मों के ग्रहण से स्वधर्म वाला (=विकृति=श्येन वाजपेय आदि के धर्म वाला) चोदक से प्राप्त धर्मों से संयुक्त होगा। चोदक=प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या वचन के सामर्थ्य से अङ्गों के सहित [श्येनादि कर्म] करे ऐसा सुना जाता है। और वे अङ्ग ज्योतिष्टोम में विद्यमान होते हुए अपेक्षित होते हैं। वहां ज्योतिष्टोम में वर्तमान नाना ऋत्विजों के साथ इसकी एकवाक्यता होती है। (आक्षेप) [औद्गात्रादि] समाख्या (=संज्ञा) प्रत्यक्ष है, और चोदक वचन से प्राप्त में आनुमानिक एकवाक्यता है। (समाधान) सत्य है, समाख्या प्रत्यक्ष है, किन्तु वह समाख्या लौकिक है। उस विषय में वैदिक शब्द का अनुमान करके उसके साथ एक वाक्यता होगी। चोदक वचन स्वीकार करने पर दूर अधीत प्रत्यक्ष इतिकर्त्तव्यता के साथ एकवाक्यता है। इस कारण चोदक वचन बलवत्तर है।

विवरण—**ज्योतिष्टोमे सन्त्यपेक्ष्यन्ते**—यहां 'सन्ति' सत् शब्द के नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा का बहुवचन है। **चोदके आनुमानिकः**—इसका भाव यह है कि औद्गात्र वेद में पठित श्येनयाग की चोदकवचन से प्राप्त अङ्गों के साथ एकवाक्यता आनुमानिक है। **तत्रानुमाय वैदिकं शब्दम्**—इसका भाव यह है कि औदगात्रादि जो लौकिक समाख्या हैं उन में स्मृतिप्रामाण्याधिकरण (मी० १।३ अधि० १) के न्याय से लौकिक समाख्या के प्रामाण्य के लिये वैदिक शब्द की कल्पना करनी होगी। तत्पश्चात् उस समाख्या के साथ श्येनादि वचनों की एकवाक्यता होगी।

व्याख्या—जो यह कहा है कि 'समाख्या के हेतु से [जिस के वेद में जो कर्म पढ़ा है, उसे ही करना चाहिये।'] इस विषय में कहते हैं—शेष में जो अव्यक्त है, वह समाख्या के द्वारा होगा। जो पदार्थ चोदक से प्राप्त नहीं होता है, वहां समाख्या से नियम होगा। जैसे श्येन याग से कण्टकैर्वितुदन्ति (=बिल्व आदि के कण्टकों से दक्षिणा में दी जाने वाली काणी लंगड़ी लूली आदि गायों को पीड़ित करे=उनका रक्त निकाले) वचन से विहित वितोदन कर्म को

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तुलनीयम्—दक्षिणाकाले कण्टकैरेना वितुदेयुः । कात्या० श्रौत २२।३।२२। द्र० आप० श्रौत २२।४।२५; हिरण्य० (सत्या०) श्रौत १७।२।१९॥

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—कात्या० श्रौत १४।५।१२॥ आप० श्रौत १८।५।१६॥ हिरण्य० श्रौत १३।२।१०॥ वैखानस श्रौत १७।१५॥

ष्यन्ति ॥५१॥ **श्येनवाजपेययोरनेककर्तृकताऽधिकरणम्** ॥२४॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य सप्तमः पादः समाप्तः ॥

—:o:—

उद्गाता करेंगे और वाजपेय में ऊषपुटैरर्पयन्ति (=ऊसर मिट्टी से भरे दोनों से यूप पर चढ़े हुए यजमान को मारते हैं) अध्वर्यु लोग अर्पण करेंगे=मारेंगे।

विवरण—इस सूत्र का भाष्योद्धृत सम्पूर्ण विषय ही हमें सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है। भट्ट कुमारिल ने भी **न त्वस्य विषयः सम्यग् दृश्यते** लिखा है। परन्तु आगे यथा पठित विषय की उपपत्ति दर्शाने का प्रयत्न किया है। श्येनादि अभिचार कर्म धर्म नहीं है। यह शबर स्वामी ने मी० १।१।२ के भाष्य में स्वीकार किया है। भट्ट प्रभाकर ने भी श्येनादि को हिंसारूप ही माना है। इन अभिचार यज्ञों का उल्लेख पञ्चविंश ब्राह्मण (=ताण्डय ब्राह्मण) का परिशिष्ट रूप जो षड्विंश ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध है, में मिलता है। वहां **कण्टकैर्वितुदन्ति** वचन नहीं मिलता है। सामवेदीय लाटचायन श्रौत ८।५।१७ में पठित **तासामपि दक्षिणावेलायां लोहितं जनयेयुः** वचन में कण्टक का निर्देश नहीं है। टीकाकार ने **अपीडया लोहितमुत्पादयेत्** लिखा है परन्तु विना पीड़ा के लोहित कैसे निकाला जायेगा? सम्भव है, **अपीडया** का अर्थ **ईषत्पीडया** स्वीकार किया हो। **कण्टकैर्वितुदन्ति** वचन थोड़े बहुत पाठ भेद से यजुर्वेद के श्रौत सूत्रों में पञ्चम साद्यस्क्र संज्ञक एकाह जो अभिचारात्मक श्येन याग है, में उपलब्ध होता है। यथा—**दक्षिणाकाले कण्टकैरेना वितुदेयुः** (कात्या० श्रौत २२।३।२२), **ता दक्षिणाकाले कण्टकैर्वितुदेयुः** (आप० श्रौत २२।४।२५), **तां दक्षिणा**······(हिरण्य=सत्या० श्रौत १७।२।१९) इत्यादि। सभी व्याख्याकारों ने यह वितोदन कर्म उद्गाताओं का कहा है। इस विवेचन से यह सिद्ध है कि भट्ट कुमारिल का '**कण्टकादिवितोदनादयश्च प्रधानवेदसमानोत्पत्तय एव द्रष्टव्याः**' वचन जो '**कण्टकवितोदन**' को सामवेदीय ब्राह्मण का कहता है, भी प्रमाणार्ह है।

यहां यह भी विचारणीय है कि इस कर्म में जो गौवें दक्षिणा में दी जाती हैं वे **काणा=काणी, खोरा=लंगड़ी,** कूटा=सींग टूटी हुई, बण्डा=पुच्छहीन कही गई हैं। ऐसी लंगड़ी लूली गौवों को दक्षिणा में देना ही चिन्त्य है। कठोपनिषद् के आरम्भ में लिखा है कि नचिकेता ने अपने पिता को दक्षिणा में पीतोदक जग्धतृण दुग्धदोह निरिन्द्रिय अर्थात् बूढ़ी गौवों को दक्षिणा में देते हुए देखकर विचार किया कि उक्त प्रकार की बूढ़ी गौवों को दक्षिणा देनेवाला मेरा पिता अनानन्द=असुख अर्थात् नरक को प्राप्त होगा। इस श्रुति से भी यही ध्वनित होता है कि लगड़ी लूली गायों का दक्षिणा में देना अनुचित है। हमारे विचार में समस्त अभिचार कर्म ही हिंसायुक्त होने से अवैदिक है। वेद का तो आदेश है—**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे** (शु० यजुः ३६।१८)। अभिचार कर्म स्पष्ट ही इस के विपरीत है।

ऊषपुटैरर्पयन्ति—वाजपेय में विधि है कि कर्म के अन्त में यजमान खड़े किये हुए यूप पर

सीढी से चढ़े और चढ़ कर पत्नी से कहे—जाये ! आओ स्वर्ग में आरोहण करें। यजमान यूप पर चढ़ कर यूप के चषाल का स्पर्श करे तत्पश्चात यूप से ऊपर शिर को उठाकर दिशाओं का अवलोकन करे (द्र० कात्या० श्रौत १४।५।६—११)। इसी प्रकार कुछ भेद से यह विधि अन्य श्रौत सूत्रों में भी है। तदनन्तर **सप्तदशाश्वत्थपत्रोपनद्धान् ऊषपुटान् उदस्यन्त्यस्मै विशः** (का० श्रौ० १४।५।१२)=नीचे स्थित यजमान के पुत्र पौत्रादि पीपल के पत्तों में बन्धे हुए ऊष=क्षार मिट्टी के पुटों को यजमान के प्रति फेंकें। वह यजमान उन्हें ग्रहण करे। यहां भाष्यस्थ **अर्पयन्ति** शब्द का अर्थ अर्पण करना=देना युक्त है। आपस्तम्ब श्रौत १८।५।६—१६ तक यह विषय वर्णित है। उसमें यह विशेष है—यजमान दिशा के स्थान में गृहों को देखता है। तमा**श्वत्थैरासपुटैरूषपुटैरुभयैर्वा वैश्याः प्रतिदिशमर्पयन्ति**=उस यजमान को आसके पुटों से अथवा ऊष के पुटों से वैश्य प्रतिदिशा अर्पित करते हैं। यहां **अर्पयन्ति** का अर्थ **घ्नन्ति**=मारते हैं, ऐसा है। अथवा बड़े ऋत्विक्=प्रमुख ऋत्विक् लम्बे बांसों में उक्त पुटों को बांध कर पूर्व से अध्वर्यु, दक्षिण से ब्रह्मा, पश्चिम से होता और उत्तर से उद्गाता मुख पर मारते हैं। लगभग ऐसा ही हिरण्य० श्रौत १३।२।१० में तथा उसकी व्याख्या में है। वैखानस श्रौत १७।१५ में स्पष्ट ही **यजमानमाश्वत्थैरासपुटै**·· —**घ्नन्ति** पाठ मिलता है। इस से **अर्पयन्ति** का अर्थ घ्नन्ति ही है, यह स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकरण से भी यह विचारणीय है कि वाजपेय क्रतु के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति का नाटक यजमान यूप पर चढ़ना और पत्नी को पुकारना रूप युक्त है, परन्तु यूप पर चढ़े हुए अथवा स्वर्ग को प्राप्त यजमान को उसकी प्रजा और ऋत्विजों के द्वारा ऊषपुटों से मारने का विधान क्यों किया गया ? क्या 'यजमान अकेला ही क्यों स्वर्ग को पहुंच गया' यह यजमान की प्रजा और ऋत्विजों की हीन भावना का द्योतक नहीं है ? किन्हीं श्रौत सूत्रों में 'यूप से उतरते हुए यजमान को' ऊष पुटों से मारने का उल्लेख है। क्या इसका यह भाव है कि यह वापस क्यों आ रहा है ? स्वर्ग प्राप्ति के नाटकीय अंश का निदर्शन करके यजमान यूप पर तो लटका रह नहीं सकता उसे शेष जीवन के यापन के लिये अवतरण करना ही होगा। अत: इस अवस्था में भी ऊष पुटों से उसे मारना अनुचित ही है। हमारे अन्ध श्रद्धालु याज्ञिक इस कर्म से अदृष्ट की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं। पर वह अदृष्ट क्या है ? इसी प्रकार वे पूर्व प्रकरण में कही लंगडी लूली गायों को दक्षिणा में देना भी अदृष्टार्थ मानते होंगे ? पर दक्षिणा देना अदृष्ट कर्म नहीं है। वह तो ऋत्विजों का कर्म का मेहनताना है। उसमें निकम्मी गौवों के देने का यदि अदृष्ट फल है तो कठ श्रुति के अनुसार नरक प्राप्ति ही है।

अध्वर्यवोऽर्पयिष्यन्ति—भाष्यकार ने ऊष पुटों से अर्पण=हनन अध्वर्युवों का कहा है। परन्तु हमने ऊपर विविध श्रौत सूत्रों के जो वचन उद्धृत किये हैं, उन में यजमान की प्रजा, वैश्य और चारों प्रधान ऋत्विजों को इस कर्म का कर्त्ता कहा है। अत: भाष्यकार का कथन हमें युक्ति संगत नहीं लगता।

मीमांसा शास्त्रज्ञों को उपर्युक्त विषय में गम्भीरता से विचार करना चाहिये। इतना

ही हमारे लिखने का प्रयोजन है। हम तो वैदिक धर्म एवं यज्ञ यागादिके शुद्धस्वरूप के पुनरुद्धारक स्वामी दयानन्द के शब्दों में[1] शाखाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्र में निर्दिष्ट यज्ञों के विधि विधान को स्वीकार करते हुए भी वेदानुकूल युक्ति प्रमाणसिद्ध विनियोग को ही प्रमाण मानते हैं। वेद विरुद्ध तथा युक्ति प्रमाण से विरुद्ध विनियोग को विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् (मी० १।३।३) इस शास्त्रवचन के अनुसार प्रमाण नहीं मानते (द्रष्टव्य हमारी व्याख्या, भाग१, पृष्ठ २३०)।

इति युधिष्ठिरमीमांसकविरचितायां
आर्षमत-विमर्शिन्याख्यायां हिन्दीव्याख्यायां
तृतीयाध्यायस्य सप्तमः पादः पूर्तिमगात् ॥

१. एतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तेत् यद्य कर्तव्यं तत्तदत्र (=वेदभाष्ये) विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः ? कर्मकाण्डस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिविषयप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय, पृष्ठ ३८८ (रा० ला० क० ट्र० सं०)।

तृतीयाध्याये अष्टमः पादः

[क्रयस्य स्वामिकर्मताधिकरणम् ॥१॥]

अस्ति परिक्रयः—ज्योतिष्टोमे द्वादशशतं[1], दर्शपूर्णमासयोरन्वाहार्यम्[2] । तत्र सन्देहः—किमध्वर्युणा परिक्रेतव्या ऋत्विजः उत स्वामिनेति ? किं प्राप्तम् ? समाख्यानादध्वर्य्युणेति प्राप्ते ब्रूमः—

स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥

स्वामिकर्म्मं परिक्रयः। कस्मात् ? कर्म्मणस्तदर्थत्वात् । फलकामो हि यजमानः ।

व्याख्या—परिक्रय है—**ज्योतिष्टोम में एक सौ बारह गायें और दर्शपूर्णमास में अन्वाहार्य । उन में सन्देह होता है—क्या अध्वर्यु के द्वारा ऋत्विजों का परिक्रय होना चाहिये अथवा स्वामी के द्वारा ? क्या प्राप्त होता है ? समाख्या (=जिस वेद में परिक्रय कहा है उसको आध्वर्यव संज्ञा होने) से अध्वर्यु को परिक्रय करना चाहिये ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण—अस्ति परिक्रयः—परिक्रय नाम उस दक्षिणादि का है जिसके द्वारा ऋत्विजों को कार्य करने के लिये अनुमत किया जाता है । **ज्योतिष्टोमे द्वादशशतम्**—द्वादश अधिक जिसमें ऐसा सौ अर्थात् एक सौ बारह । यह संख्या किसी भी वस्तु की हो सकती है । अतः श्रौत सूत्रकारों ने कहा है—**गवां संख्या भवति** (आप० श्रौत १३।५।५) अर्थात् जो यहां (प्रथम सूत्र में) संख्या कही है वह गायों की है । **अन्वाहार्यम्**—अनु यज्ञ के पश्चात् आहार्य=ऋत्विजों से भक्षण योग्य ओदन । दर्शपूर्णमास में ४ ऋत्विक् होते हैं । उनके भरपेट खाने के लिये जो ओदन होता है वह अन्वाहार्य कहाता है । यही दर्शपूर्णमास की दक्षिणा है । **समाख्यानादध्वर्युः**—आध्वर्यव वेद में परिक्रय का समाम्नान होने से उस वेद में पठित कर्म अध्वर्यु को ही करना चाहिये ।

स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(**परिक्रयः**) परिक्रय=वरण (**स्वामिकर्म**) स्वामी=यजमान का कर्म है । अर्थात् यजमान ऋत्विजों का वरण करे । (**कर्मणः**) कर्म के (**तदर्थत्वात्**) स्वामी=यजमान के लिये होने से । अर्थात् याग यजमान अपने लिये करता है । अतः परिक्रय भी उसे ही करना चाहिये ।

व्याख्या—**परिक्रय स्वामी का कर्म है । किस हेतु से ? कर्म के उस के लिए होने से ।**

---

१. द्र०—आप० श्रौत १३।५।१॥

२. द्र०—अन्वाहार्यमभिघार्योद्वास्य……। सा दक्षिणा। कात्या० श्रौत २।४।२७-२८॥ अन्वाहार्यस्य च दानम् आप० श्रौत ४।११।३॥

यश्च फलकामस्तेन स्वयं कर्त्तव्यम् । स यदि परिक्रीणीते, ततः स्वयं सर्वं करोतीति गम्यते । अथ न परिक्रीणीते न सर्वं कुर्यात् । तस्मात् स्वामी परिक्रीणीते इति ॥१॥

किमेष एवोत्सर्गः । नेत्युच्यते—

वचनादितरेषां स्यात् ॥ २ ॥

वचनादितरेषां स्यात् । यत्र वचनं भवति तत्र वचनप्रामाण्याद् भवति परिक्रयः। य एतामिष्टकामुपदध्यात् स त्रीन् वरान् दद्याद् इति ॥२॥ ॥ क्रयस्य स्वामिकर्मताऽधिकरणम् ॥१॥

फल की कामना वाला यजमान है । और जो फल की कामना वाला है उसे स्वयं परिक्रय करना चाहिये । यदि वह ऋत्विजों का परिक्रय करता है तो उस से सब स्वयं करता है, ऐसा जाना जाता है । यदि यजमान परिक्रय नहीं करता है तो वह सबकर्म स्वयं न करे [अर्थात् परिक्रय के अभाव में ऋत्विजों से किया हुआ कर्म उस से किया हुआ न होवे] । इस कारण स्वामी परिक्रय करता है ।।१।।

व्याख्या—क्या यही उत्सर्ग (=सामान्य) नियम है । नहीं—

वचनाद् इतरेषां स्यात् ।।२।।

सूत्रार्थः— (वचनात्) वचन सामर्थ्य से (इतरेषाम्) अन्यों का [परिक्रय कर्म] (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—वचन सामर्थ्य से अन्यों का [परिक्रय कर्म] होवे । जहां वचन होता है वहां वचन प्रामाण्य से परिक्रय कर्म होता है । य एतामिष्टकामुपदध्यात् स त्रीन् वरान् दद्यात् (=जो अध्वर्यु इस इष्टका का उपधान करे वह तीन वरों को देवे) ।

विवरण—य एतामिष्टकाम्—यह वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ । तै० सं० ५।२।८।२ में पाठ इस प्रकार है—योऽविद्वानिष्टकामुपदधाति त्रीन् वरान् दद्यात्[1] (=जो अविद्वान् स्वयमातृण्णा इष्टका का उपधान करता है वह तीन वर देवे) । वर का अर्थ इसी पाठ की व्याख्या में भट्ट भास्कर ने '४ वर्ष की गौ' किया है । तदनुसार तीन गौ देने का विधान है । मेरी पुस्तक में अध्ययनकाल की टिप्पणी है—गौ, धेनु (नव प्रसूता) और अनड्वान् । इस का मूल मुझे इस समय नहीं मिला । यह वर स्वयमातृण्णा का उपधान करने वाले अविद्वान् ब्राह्मण ने देना है । किस को देना है ? इस विषय में सायण ने तै० सं० ५।२।६ पृष्ठ २८१० प्र० सं० पूना) में उपर्युक्त वचन की व्याख्या में 'अध्वर्यु को वर देवे' ऐसा लिखा है। कुतुहल वृत्तिकार ने 'य एतामविद्वान् ब्राह्मणः स्वयमातृण्णामुपदध्यात् सो अध्वर्यवे त्रीन् वरान् दद्यात् अनड्वान् होत्रे देयः' पाठ उद्धृत किया है । यह हमें उपलब्ध नहीं हुआ ।।२।।

---

१. द्र० आप० श्रौत १६।२३।३।

[वपनादिसंस्काराणां याजमानताधिकरणम्] ॥२॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—केशश्मश्रु वपते[1], दतो धावते[2], नखानि निकृन्तते[3], स्नाति[4] इति। तत्र सन्देहः—किमेवञ्जातीयका अध्वर्युणा कर्त्तव्याः, उत यजमानेनेति ? किं प्राप्तम् ?

संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन् ॥ ३ ॥

अध्वर्युणा कर्त्तव्याः। संस्कारा यथावेदं व्यवतिष्ठेरन्, समाख्यानात् पुरुषेण कर्म्मवत्। यथा अन्ये पदार्था यस्मिन् वेदे आम्नातास्तत्समाख्यातेन पुरुषेण क्रियन्ते, एवमेतेऽपीति ॥३॥

याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात् कर्मवत् ॥ ४ ॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—केशश्मश्रु वपते, दतो धावते नखानि निकृन्तते, स्नाति (=केश और श्मश्रु का वपन करता है, दांतों को धोता है, नखों को काटता है, स्नान करता है)। इनमें सन्देह होता है—क्या इस प्रकार के कर्म अध्वर्यु से किये जाने चाहियें अथवा यजमान से ? क्या प्राप्त होता है ?

संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन् ॥३॥

सूत्रार्थः—(संस्काराः) केशश्मश्रु का वपन आदि संस्कार (तु) तो (पुरुषसामर्थ्ये) कर्म करनेवाले पुरुष के सामर्थ्य में प्रयोजक होते हैं। अर्थात् कर्म करनेवाले पुरुष में सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार (यथावेदम्) जिस वेद में पठित जो संस्कार हो उस वेद से कार्य करनेवाले ऋत्विक् में (कर्मवत्) जैसे स्तोत्र शस्त्र आदि कर्म स्वस्व वेद से कर्म करने वालों में व्यवस्थित होते हैं उसी प्रकार संस्कार भी (व्यवतिष्ठेरन्) यथावेद व्यवस्थित होवें। उपर्युक्त संस्कार आध्वर्यव वेद में पढ़े हैं। अतः अध्वर्यु तथा उसके गण के पुरुष करें।

व्याख्या—अध्वर्यु को संस्कार करने चाहियें। संस्कार यथावेद व्यवस्थित होवें। समाख्या सामर्थ्य से [उस उस वेद वाले] पुरुष से किए जावें, कर्मों के समान। जैसे अन्य पदार्थ जिस वेद में पठित होते हैं उस नाम वाले पुरुष से किये जाते हैं, इसी प्रकार ये संस्कार भी यथावेद व्यवस्थित होवें।

याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात् कर्मवत् ॥४॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' पद 'समाख्या से संस्कार अध्वर्यु से करने योग्य हैं' इस पक्ष की

---

१. तै० सं० ६।१।१।२॥ २. द्र०—औदुम्बरेण दतो धावते। आप० श्रौत १०।५।१४
३. तै० सं० ६।१।१।२॥ ४. तै० सं० ६।१।१।२॥

यजमानेन वा कर्त्तव्याः। कुतः? पुरुषप्रधानत्वात्। कथं पुरुषप्राधान्यम्? कर्त्रभिप्रायं क्रियाफलं गम्यते, तस्मात् पुरुषस्य कर्म्मकरणसामर्थ्यमुपजनयन्ति। न च कश्चिद् येन कर्म्मकरणेन सामर्थ्यमुपजन्यते तदर्थं पुरुषान् क्रीणातीति। ईप्सितेभ्यः पदार्थेभ्यः क्रीणाति। येन यस्य सामर्थ्यं भवति, तत् तेनैव कर्त्तव्यम्. कर्म्मवत्। यथा प्रधानकर्म्माणि पुरुषार्थानि यजमानस्य भवन्त्येवमेतदपीति ॥४॥

व्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥

परस्मैपदव्यपदेशश्च भवति—तमभ्यनक्ति[3], शरेषीकयाऽनक्ति[4], इति च। अन्यो यजमानस्याञ्जनमभ्यञ्जनं करोतीति गम्यते ॥५॥

निवृत्ति के लिये है। (याजमानाः) संस्कार यजमान सम्बन्धी हैं। (तत्प्रधानत्वात्) यजमान की प्रधानता होने से (कर्मवत्) यागादि कर्मों के समान। अर्थात् जैसे अग्निहोत्रादि कर्म यजमान सम्बन्धी हैं, तद्वत् संस्कार भी यजमान सम्बन्धी हैं।

व्याख्या—[केशश्मश्रु का वपन आदि संस्कार] यजमान से किये जाने चाहियें। किस हेतु से? पुरुष (=यजमान) के प्रधान होने से। पुरुष का प्राधान्य कैसे है? [वपते धावते निकृन्तते आदि में आत्मनेपद से] कर्त्रभिप्राय (=कर्तृगामी) क्रियाफल जाना जाता है। इस कारण [ये संस्कार] पुरुष में कर्म करने के सामर्थ्य को उत्पन्न करते हैं। कोई भी जिस से कर्म करने में सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसके लिये पुरुषों का परिक्रय नहीं करता है। ईप्सित (=चाहे हुए) पदार्थों के लिये परिक्रय करता है। जिस कर्म से जिसका सामर्थ्य उत्पन्न होता है वह कर्म उसे ही करना चाहिये। कर्म के समान। जैसे प्रधान कर्म पुरुषार्थरूप यजमान के होते हैं, उसी प्रकार ये संस्कार भी होते हैं ॥४॥

व्यपदेशाच्च ॥५॥

सूत्रार्थः—(व्यपदेशात्) कथन करने से (च) भी संस्कार यजमान के ही हैं।

व्याख्या—परस्मैपद का कथन होता है—तमभ्यनक्ति (=उस यजमान का अभ्यञ्जन करता है)। शरेषीकयाऽनक्ति (=कांस के फूल के नीचे की डण्डी से यजमान का अञ्जन करता है) अन्य पुरुष यजमान का अञ्जन और अभ्यञ्जन करता है, ऐसा जाना जाता है।

विवरण—**तमभ्यनक्ति**—अध्वर्यु नवनीत से यजमान का अभ्यङ्ग करता है। कात्या० श्रौत० ७।२।३० में 'अभ्यङ्क्ते' आत्मनेपद का प्रयोग होने पर भी शतपथ श्रुति (३।१।३।८) के अनुरोध से अध्वर्यु कर्तृक अभ्यङ्ग ही टीकाकारों ने माना है। आप० श्रौत १०।७।१२ में आत्मनेपद के प्रयोग से रुद्रदत्त ने आत्मानं त्रिरभ्यङ्क्ते कहकर यजमान के स्वयं अभ्यङ्ग करने का विधान किया है। तै० सं० ६।१।१।५ में यन्नवनीतेनाभ्यङ्क्ते में आत्मनेपद का ही प्रयोग

---

३. शत० ३।१।३।८॥ ४. शत० ३,१।३।१३॥

मिलता है। **शरेषीकयानक्ति**—शतपथ ३।१।३।१२ के अनुसार,त्रैककुद अञ्जय तथा उसके अभाव में अञ्जनमात्र शरेषीका से अध्वर्यु यजमान की आखों में लगाता है। **स तूल्याऽङ्क्ते** (तै० सं० ६।१।१।६) में आत्मने पद के प्रयोग से आपस्तम्ब श्रौत में अञ्जन यजमान कर्त्तृक माना गया है। तूल से यहां पर (सरकण्डे) का फूल अभिप्रेत है। द्र० आप० १०।७।३ की रुद्रदत्तीय टीका।

विशेष—परस्मैवदव्यपदेशश्च भवति=पूर्व सूत्रस्थ **वपते धावते निकृन्तते** में आत्मने पद के प्रयोग से कर्तृगामीफल का कथन किया है, और यहां परस्मैपद के व्यवहार से अञ्जन आदि क्रिया कर्ता अध्वर्यु को ठहराया है। भट्ट कुमारिल ने भी इस सूत्र के वार्तिक में यही लिखा है। इस निर्देश में पूर्व सूत्रस्थ स्नाति में परस्मैपद होने इस से में इस कर्तृगामी फल की प्रतीति होने से स्नान रूप संस्कार अध्वर्युकर्तृक होगा। इस का समाधान अनुत्तरित रहता है। अतः यहां आत्मनेपद और परस्मैपद रूप वैयाकरणी संज्ञा का निर्देश नहीं है, ऐसा जानना चाहिये। पूर्व सूत्र के भाष्य में 'आत्मनेपद' का साक्षात् निर्देश नहीं है। यहां श्रुत 'परस्मैपद' से तात्पर्य 'अन्य कर्त्तृक व्यपदेश' जानना चाहिये। **'तमभ्यनक्ति'** में **'तम्'** के निर्देश से अञ्जन क्रिया अन्य-कर्तृक है, यह जाना जाता है। **शरेषीकयाऽनक्ति** में भी **'तम्'** पद पूर्वतः संबद्ध होता है।

यहां यह विशेष ज्ञातव्य है कि आत्मनेपद परस्मैपद वैयाकरणी संज्ञाओं से युक्त क्रियापदों का मन्त्रसंहिताओं में यथावत् प्रयोग मिलता है। यथा—**ब्रह्मचारिणमिच्छते** (अथर्व० ११।५।१७)। यहां वैयाकरणों द्वारा परस्मैपदित्व रूप से आख्यात इष धातु भी कर्त्तृगामी क्रियाफल का बोधन कराने के लिये आत्मनेपद में प्रयुक्त हुई है। अतः इसका अर्थ होगा—आचार्य "मैं आचार्य बनूं" इसलिये ब्रह्मचारी की इच्छा करता है। उत्तर शाखा वा ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवचन काल में यह नियम कुछ शिथिल हो गया था। अतः स्नाति आत्मनेपद का प्रयोग नहीं है। वैसे भी क्रिया का फल शरीर शुद्धि वा=शीतलता सदा स्नानकर्त्ता को प्राप्त होता है,यह परगामी नहीं हो सकता। अतः यहां कर्तृगामी क्रियाफल के स्वः गम्यमान होने से आत्मनेपद प्रत्यय की विवक्षा नहीं है, यह जानना चाहिये। उत्तरकाल में लौकिकभाषा में आत्मनेपद परस्मैपद का प्रयोग बहुत शिथिल हो गया। कुछ धातुएं परस्मैपदी ही रह गई कुछ आत्मनेपदी ही। दोनों का स्वगामी और परगामी क्रियाफल में प्रयोग होने लगा। इनके प्रयोगों में पदान्तर प्रयोग से इनकी व्यवस्था जानी जा सकती है। क्रिया के स्वस्वरूप से व्यवस्था लुप्त हो गई। स्वगामी और परगामी क्रियाफल के बोध के लिये आत्मनेपद परस्मैपद की व्यवस्था इस काल में केवल उभयपदी धातुओं तक सीमित रह गई।

गुणत्वे तस्य निर्देशः ॥६॥

सूत्रार्थः—(तस्य) समाख्या का (निर्देशः) निर्देश (गुणत्वे) क्रिया के गुणत्व में अर्थात् गुणभूत अङ्ग कर्मों में जानना चाहिये। अर्थात् अङ्गभूत कर्मों में आध्वर्यव आदि समाख्या से कर्तृ की व्यवस्था होगी।

यजमानेन वा कर्त्तव्याः । कुतः ? पुरुषप्रधानत्वात् । कथं पुरुषप्राधान्यम् ? कर्त्रभिप्रायं क्रियाफलं गम्यते, तस्मात् पुरुषस्य कर्म्मकरणसामर्थ्यमुपजनयन्ति । न च कश्चिद् येन कर्म्मकरणेन सामर्थ्यमुपजन्यते तदर्थं पुरुषान् क्रीणातीति । ईप्सितेभ्यः पदार्थेभ्यः क्रीणाति । येन यस्य सामर्थ्यं भवति, तत् तेनैव कर्त्तव्यम्, कर्म्मवत् । यथा प्रधानकर्म्माणि पुरुषार्थानि यजमानस्य भवन्त्येवमेतदपीति ॥४॥

व्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥

परस्मैपदव्यपदेशश्च भवति—तमभ्यनक्ति[3], शरेषीकयाऽनक्ति[4], इति च । अन्यो यजमानस्याञ्जनमभ्यञ्जनं करोतीति गम्यते ॥५॥

निवृत्ति के लिये है। (याजमानाः) संस्कार यजमान सम्बन्धी हैं। (तत्प्रधानत्वात्) यजमान की प्रधानता होने से (कर्मवत्) यागादि कर्मों के समान। अर्थात् जैसे अग्निहोत्रादि कर्म यजमान सम्बन्धी हैं, तद्वत् संस्कार भी यजमान सम्बन्धी हैं।

व्याख्या—[केशश्मश्रु का वपन आदि संस्कार] यजमान से किये जाने चाहियें। किस हेतु से ? पुरुष (=यजमान) के प्रधान होने से। पुरुष का प्राधान्य कैसे है ? [वपते धावते निकृन्तते आदि में आत्मनेपद से] कर्त्रभिप्राय (=कर्तृगामी) क्रियाफल जाना जाता है। इस कारण [ये संस्कार] पुरुष में कर्म करने के सामर्थ्य को उत्पन्न करते हैं। कोई भी जिस से कर्म करने में सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसके लिये पुरुषों का परिक्रय नहीं करता है, ईप्सित (=चाहे हुए) पदार्थों के लिये परिक्रय करता है। जिस कर्म से जिसका सामर्थ्य उत्पन्न होता है वह कर्म उसे ही करना चाहिये। कर्म के समान। जैसे प्रधान कर्म पुरुषार्थरूप यजमान के होते हैं, उसी प्रकार ये संस्कार भी होते हैं॥४॥

व्यपदेशाच्च ॥५॥

सूत्रार्थः—(व्यपदेशात्) कथन करने से (च) भी संस्कार यजमान के ही हैं।

व्याख्या—परस्मैपद का कथन होता है—तमभ्यनक्ति (=उस यजमान का अभ्यञ्जन करता है)। शरेषीकयाऽनक्ति (=कांस के फूल के नीचे की डण्डी से यजमान का अञ्जन करता है) अन्य पुरुष यजमान का अञ्जन और अभ्यञ्जन करता है, ऐसा जाना जाता है।

विवरण—तमभ्यनक्ति—अध्वर्यु नवनीत से यजमान का अभ्यङ्ग करता है। कात्या० श्रौत० ७।२।३० में 'अभ्यङ्क्ते' आत्मनेपद का प्रयोग होने पर भी शतपथ श्रुति (३।१।३।१९) के अनुरोध से अध्वर्यु कर्तृक अभ्यङ्ग ही टीकाकारों ने माना है। आप० श्रौत १०।७।१२ में आत्मनेपद के प्रयोग से रुद्रदत्त ने आत्मानं त्रिरभ्यङ्क्ते कहकर यजमान के स्वयं अभ्यङ्ग करने का विधान किया है। तै० सं० ६।१।१।५ में यन्नवनीतेनाभ्यङ्क्ते में आत्मनेपद का ही प्रयोग

---

३. शत० ३।१।३।९॥ ४. शत० ३,१।३।१३॥

गुणत्वे तस्य निर्देशः ॥९॥

मिलता है। **शरेषीकयानक्ति**—शतपथ ३।१।३।१२ के अनुसार,त्रैककुद अञ्जय तथा उसके अभाव में अञ्जनमात्र शरेषीका से अध्वर्यु यजमान की आखों में लगाता है। **स तूल्याऽङ्क्ते** (तै० सं० ६।१।१।६) में आत्मने पद के प्रयोग से आपस्तम्ब श्रौत में अञ्जन यजमान कर्तृक माना गया है। तूल से यहां पर (सरकण्डे) का फूल अभिप्रेत है। द्र० आप० १०।७।३ की रुद्रदत्तीय टीका।

विशेष—**परस्मैवदध्वपदेशश्च भवति**=पूर्व सूत्रस्थ **वपते धावने निकृन्तते** में आत्मने पद के प्रयोग से कर्तृगामीफल का कथन किया है, और यहां परस्मैपद के व्यवहार से अञ्जन आदि क्रिया कर्ता अध्वर्यु को ठहराया है। भट्ट कुमारिल ने भी इस सूत्र के वार्तिक में यही लिखा है। इस निर्देश में पूर्व सूत्रस्थ स्नाति में परस्मैपद होने इस से में इस कर्तृगामी फल की प्रतीति होने से स्नान रूप संस्कार अध्वर्युकर्तृक होगा। इस का समाधान अनुत्तरित रहता है। अतः यहां आत्मनेपद और परस्मैपद रूप वैयाकरणी संज्ञा का निर्देश नहीं है, ऐसा जानना चाहिये। पूर्व सूत्र के भाष्य में 'आत्मनेपद' का साक्षात् निर्देश नहीं है। यहां श्रुत 'परस्मैपद' से तात्पर्य 'अन्य कर्तृक व्यपदेश' जानना चाहिये। '**तमभ्यनक्ति**' में '**तम्**' के निर्देश से अञ्जन क्रिया अन्य-कर्तृक है, यह जाना जाता है। **शरेषीकयाऽनक्ति** में भी '**तम्**' पद पूर्वतः संबद्ध होता है।

यहां यह विशेष ज्ञातव्य है कि आत्मनेपद परस्मैपद वैयाकरणी संज्ञाओं से युक्त क्रियापदों का मन्त्रसंहिताओं में यथावत् प्रयोग मिलता है। यथा—**ब्रह्मचारिणमिच्छते** (अथर्व० ११।५।१७)। यहां वैयाकरणों द्वारा परस्मैपदित्व रूप से आख्यात इष धातु भी कर्तृगामी क्रियाफल का बोधन कराने के लिये आत्मनेपद में प्रयुक्त हुई है। अतः इसका अर्थ होगा—आचार्य "मैं आचार्य बनूं" इसलिये ब्रह्मचारी की इच्छा करता है। उत्तर शाखा वा ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवचन काल में यह नियम कुछ शिथिल हो गया था। अतः स्नाति आत्मनेपद का प्रयोग नहीं है। वैसे भी क्रिया का फल शरीर शुद्धि वा=शीतलता सदा स्नानकर्त्ता को प्राप्त होता है,यह परगामी नहीं हो सकता। अतः यहां कर्तृगामी क्रियाफल के स्वः गम्यमान होने से आत्मनेपद प्रत्यय की विवक्षा नहीं है, यह जानना चाहिये। उत्तरकाल में लौकिकभाषा में आत्मनेपद परस्मैपद का प्रयोग बहुत शिथिल हो गया। कुछ धातुएं परस्मैपदी ही रह गई कुछ आत्मनेपदी ही। दोनों का स्वगामी और परगामी क्रियाफल में प्रयोग होने लगा। इनके प्रयोगों में पदान्तर प्रयोग से इनकी व्यवस्था जानी जा सकती है। क्रिया के स्वस्वरूप से व्यवस्था लुप्त हो गई। स्वगामी और परगामी क्रियाफल के बोध के लिये आत्मनेपद परस्मैपद की व्यवस्था इस काल में केवल उभयपदी धातुओं तक सीमित रह गई।

गुणत्वे तस्य निर्देशः ॥९॥

सूत्रार्थः—(तस्य) समाख्या का (निर्देशः) निर्देश (गुणत्वे) क्रिया के गुणत्व में अर्थात् गुणभूत अङ्ग कर्मों में जानना चाहिये। अर्थात् अङ्गभूत कर्मों में आध्वर्यव आदि समाख्या से कर्तृ की अवस्था होगी।

यदुक्तं समाख्यानाद् यथावेदमिति, नैतदेवम् । गुणत्वे तस्य निर्देशः । तत्र वयं समाख्यां नियामिकामिच्छामो, यत्र कर्म्मणः प्राधान्यम् । यदर्थं क्रेतव्याः पुरुषाः प्राप्तास्तत्र समाख्यया नियमः । कल्प्यो हि सम्बन्धो वपनादिभिः पुरुषाणामदृष्टार्थत्वात् । क्लृप्त आरादुपकारकैः । न च क्लृप्ते उपपद्यमाने कल्प्यः शक्यः कल्पयितुम् । तस्मान्न पुरुषप्राधान्ये समाख्या नियामिका स्यात् ॥६॥

चोदनां प्रति भावाच्च ॥ ७ ॥ (उ०)

चोदनेत्यपूर्वं ब्रूमः ।अपूर्वं प्रति संस्कारा विधीयन्ते ते ह्यसम्भवाद् द्रव्येषु कल्प्यन्ते। सन्निकृष्टद्रव्याभावे च विप्रकृष्टेषु भवेयुः । यदा तु सन्निकृष्टे द्रव्ये सम्भवन्ति तदा न विप्रकृष्टेषु प्रयोक्तव्याः । कृतार्थत्वात् । तस्माद् याजमाना इति ॥७॥

व्याख्या—जो यह यहा है कि [अध्वर्यु आदि] समाख्यान (=कथन) से यथावेद कर्तृत्व होगा, ऐसा नहीं है । गुणभूत अङ्ग कर्मों में उस (=समाख्या) का निर्देश होता है । वहां हम समाख्या को नियामिका चाहते हैं, जहां कर्म की प्रधानता होती है । जिस के लिये क्रय योग्य पुरुष प्राप्त होते हैं, वहां समाख्या से नियम होता है । क्रेतव्यपुरुषों वा वपन आदि से सम्बन्ध कल्प्य (=कल्पनीय) होगा अर्थात् उन्हें अदृष्ट के लिये मानना होगा । आरात् उपकारक=सन्निपत्य उपकारक अर्थात् गुण कर्मों के साथ क्रेतव्य पुरुषों के साथ सम्बन्ध क्लृप्त है=उपपन्न है [अर्थात् जिन कर्मों को पुरुष स्वयं करने में असमर्थ होता है, उनको कराने के लिये नौकर रखता है] । प्रयोजन के क्लृप्त (=उपपन्न) होने पर कल्प्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है । इस कारण पुरुषप्रधान कर्म (=स्वयं क्रियमाण योग्य कर्म) में समाख्या नियामिका नहीं होती है ।

चोदनां प्रति भावाच्च ॥७॥

सूत्रार्थः—वपनादि संस्कारों के (चोदनाम्) चोदना=अपूर्व के (प्रति) प्रति (भावात्) विधान होने से (च) भी वपनादि संस्कार यजमान सम्बन्धी ही हैं ।

व्याख्या=चोदना से अपूर्व को कहते हैं । अपूर्व (=अदृष्ट) के प्रति संस्कारों का विधान किया जाता है । वे [अपूर्व] में सम्भव न होते हुए द्रव्य में कल्पित किए जाते हैं । सन्निकृष्ट (=समीपस्थ) द्रव्य के अभाव में विप्रकृष्ट (=दूरस्थ) द्रव्यों में होवें । जब सन्निकृष्ट द्रव्य में सम्भव होवें तब दूरस्थों में प्रयुक्त न किये जायें, [समीपस्थ द्रव्य में] कृतार्थ होने से । इस कारण वपनादि संस्कार यजमान सम्बन्धी हैं ।

विवरण—चोदनेत्यपूर्वं ब्रूमः—ऐसा ही वचन मी० २।१।५ के भाष्य में भी कहा है । चोदना का अर्थ कुतुहल वृत्तिकार ने इस प्रकार लिखा है—विधि से चोदित होता है, अर्थात् जाना जाता है, इसलिये चोदना नाम अपूर्व का है । यहां अपूर्व से परमापूर्व जिससे फल की निष्पत्ति होती है, वह अभिप्रेत है । क्योंकि अङ्गापूर्व के प्रति कहे गये संस्कार अङ्गाश्रित द्रव्यों

इदं पदोत्तरं सूत्रम् । अथ कस्मान्न समानविधाना भवन्ति ? अविशेषविधानाद्धि पुरुषमात्रस्य प्राप्नुवन्ति । तदुच्यते—

अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ॥ ८ ॥ (उ०)

नैतत् समानं सर्वपुरुषाणां तेविधानम् ।कुतः? अतुल्यत्वात् ।अतुल्या एते एतद्विधान

में होते हैं। सन्निकृष्टद्रव्याभावे च विप्रकृष्टेषु भवेयुः—अग्नीषोमीय पशु के प्रकरण में स्थाण्वाहुतीर्जुहोति वचन पठित है। स्थाणोः आहुतिः=स्थाण्वाहुतिः, षष्ठीसमासः। यह स्थाण्वाहुति स्थाणु जिस वृक्ष में से यूप के लिए ऊपर का भाग काट लिया है, उस के अवशिष्ट स्थाणु=ठूंठ से सम्बद्ध है अथवा यूप से सम्बद्ध है। इस विषय में मीमांसा १०।१। अधि० ७ (सूत्र१०-१३) में विचार किया है। वहां निर्णय किया है कि यह आहुति यदि आरात् उपकारक होती हुई यूप से सम्बद्ध है तो इसकी अदृष्टार्थता के प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी और यदि यह विप्रकृष्ट स्थाणु=कटे हुए ठूंठ से सम्बद्ध होती है, तो क्लृप्त प्रयोजना होती है। उस आहुति से उस ठूंठ का विरोहण अभिप्रेत है। इसी प्रकार सप्तमे पदे जुहोति है। सोम क्रयणी गौ को सोम खरीदने के लिए ले जाते हुए जहां सातवां पैर भूमि पर पड़ा है,उस स्थान में हिरण्य रख कर होम करते हैं=घृत छोड़ते हैं। यह होम यदि सोम क्रयणी गौ के लिए है तो अदृष्टार्थ की कल्पना करनी होगी और इसका सम्बन्ध पदस्थान से है, तो इसका प्रयोजन क्लृप्त है। घृत से उस स्थान की धूल संगृहीत होती है और उसके चिकनी होने से हविर्धान शकट के अक्ष का उपाञ्जन=चोपड़ना उपपन्न होता है। [द्र० मी० ४।१। अधि० ७ (सूत्र २५)]। इसलिये सिद्धान्त यह है कि जहां समीपस्थ द्रव्य में किया गया संस्कार उपपन्न न होता हो वहां दूरस्थ द्रव्य में संस्कार स्वीकार किया जाता है। जब सन्निकृष्ट द्रव्य में सम्भव हो तो विप्रकृष्ट में संस्कार नहीं किये जाते। वपनादि संस्कार याग अथवा परमापूर्व में सम्भव न होने पर उसके सन्निकृष्ट में जो यजमान है, उस में किए जाते हैं, दूरभूत ऋत्विजों में नहीं किये जाते।

व्याख्या—यह सूत्र कुछ पदों के अनन्तर है [अर्थात् कुछ पदों को सूत्रकार ने मन में रखकर सूत्र की रचना की है]। वपनादि संस्करण समान विधान (=यजमान और ऋत्विजों दोनों के) किस कारण नहीं होते हैं? विशेष विधान न होने से पुरुष मात्र के प्राप्त होते हैं। इस विषय में कहते हैं —

अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ॥८॥

सूत्रार्थः— (अतुल्यत्वात्) यजमान और ऋत्विजों के असमान होने से वपनादि संस्कार (असमानविधानाः) समानविधान=यजमान और ऋत्विजों दोनों के नहीं (स्युः) होवें।

विशेष — अतुल्यत्वात् — यजमान स्वामी है ऋत्विक् परिक्रीत हैं। **असमानविधानाः**—यह **असूर्यम्पश्या राजदाराः** के समान असमर्थ समास है। इस के नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ है—वपनादि संस्कार समानविधान न होवें।

व्याख्या—यह सब पुरुषों का समान विधान नहीं है। किस हेतु से? अतुल्य होने से।

प्रति। का अतुल्यता ? यद् यजमानस्य विहिता न ऋत्विजाम्। कथं यजमानस्य विहिता इत्यवगम्यते ? अर्थात् स्वयं प्रयोगे स्याद्[1] इति। नन्वविशेषाद् ऋत्विजामपि विहिताः। प्रयोजनाऽभावादविहिता इति पश्यामः। कथं प्रयोजनाभावः ? ऋत्विग्भिः क्रियमाणा न यजमानेन कृता न कारिताः। अतदर्थत्वात् परिक्रयस्य। स्वयंकृताश्च नार्थिन उपकुर्वन्ति। तस्मादप्रयोजनाः। अत ऋत्विजामऽविहिताः। एतदतुल्यत्वम्। तस्मान्न समानविधाना इति ॥८॥ ॥वपनादिसंस्काराणां याजमानताधिकरणम्॥

—:०:—

[तपसो याजमानताधिकरणम् ॥३॥

तपः श्रूयते— द्व्यहं नाश्नाति, त्र्यहं नाश्नाति[2] इति। तत्र सन्देहः - किमार्त्विजं तपः, याजमानमिति ? किं प्राप्तम् ? समाख्यानादार्त्विजं तप इति प्राप्तम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः –

तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥ ९ ॥ (उ०)

इस विधान (=वपन संस्कार) के प्रति ये (=यजमान और ऋत्विक्) तुल्य नहीं हैं। असमानता क्या है ? जो ये संस्कार यजमान के विहित हैं, ऋत्विजों के विहित नहीं हैं। यह कैसे जाना जाता है कि यजमान के विहित हैं ? अर्थापत्ति से। स्वयं प्रयोग में फल होता है (द्र० मी० ३।७।१८)। (आक्षेप) विशेष का निर्देश न होने से ऋत्विजों के भी ये संस्कार विहित हैं। (समाधान) प्रयोजन का अभाव होने से ऋत्विजों के विहित नहीं हैं, ऐसा हम जानते हैं। ऋत्विजों का प्रयोजन का अभाव कैसे है ? ऋत्विजों के द्वारा किये जाने वाले वपनादि संस्कार न यजमान से कृत होते हैं और न कराये गए। परिक्रय के तदर्थ (संस्कारार्थ) न होने से [अर्थात् वपनादि संस्कारों के लिए ऋत्विजों का परिक्रय नहीं किया है]। ऋत्विजों के द्वारा अपने आप किये गये ये संस्कार अर्थी=यजमान के उपकारक नहीं होते हैं। इस लिये ऋत्विजों के वपनादि संस्कार प्रयोजन रहित हैं। इसी से ये संस्कार ऋत्विजों के विहित नहीं हैं। यह अतुल्यता है। इस कारण समानविधान नहीं है ॥८॥

—:०:—

व्याख्या—तप सुना जाता है—द्व्यहं नाश्नाति, त्र्यहं नाश्नाति (=दो दिन नहीं खाता है, तीन दिन नहीं खाता है)। इसमें सन्देह होता है—क्या यह तप ऋत्विजों का है अथवा यजमान का ? क्या प्राप्त होता है। [तप के यजुर्वेद में विहित होने से आध्वर्यव इस] संज्ञा से ऋत्विजों का तप है ऐसा प्राप्त होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥९॥

सूत्रार्थः—(तपः) काया का शोषण करने हारा अनशन रूप तप (च) भी यजमान सम्बन्धी होता है। (फलसिद्धित्वात्) फल की सिद्धि करने वाला होने से (लोकवत्) जैसे लोक

---

१. मीमांसा ३।७।१८॥ २. अनुपलब्धमूलम्।

याजमानं तप इति। कुतः ? फलसिद्धित्वात्। फलसिद्ध्यर्थं तपः। तप सिद्धस्य यागफलं सिद्ध्यति। कथमेतदवगम्यते ? दुःखं हि तपः। दुःखं चाधर्म्मफलम्। अधर्मो यागफलस्य प्रतिबन्धको भवति। अश्रेयस्करो हि सः। तस्मिन् सति न श्रेयो भवितुमर्हति। तस्मात् सोऽपनेतव्यः। फलभोगेन च विरुद्ध्येते धर्माधर्मौ। तस्मात् दुःखफलभोगाय धर्मः[1] श्रूयते। यत्तेन दुःखमुत्पादयितव्यमिदं तदिति। एवं दृष्टार्थं भवति, नादृष्टं कल्पयितव्यम्। तेन फलोपभोगेन क्षीणेऽधर्मेऽप्रतिबद्धो यागः फलं दास्यतीति। फलसिद्धिश्च यजमानस्य कर्त्तव्या, नर्त्विजाम्। तस्माद् याजमानं तप इति ।:६।।

वाक्यशेषश्च तद्वत् ।। ।।१० (उ०)

में मलिन दर्पण को राख आदि से घिसने पर वह कार्यक्षम=मुखादि अङ्ग देखने के योग्य होता है, इसी प्रकार यजमान भी तप से अग्निष्टोम जन्य फल की प्राप्ति में प्रतिबन्धक दोष का निराकरण करने वाला होता है—

विशेष— फलसिद्धित्वात्—'फलस्य सिद्धिः यस्मात् तत्तपः फलसिद्धि' अर्थात् फल की सिद्धि जिस से होती है वह तप 'फलसिद्धि' कहा गया है।

व्याख्या— तप यजमान सम्बन्धी है। किस हेतु से ? फल की सिद्धि वाला होने से। फल की सिद्धि के लिए तप है। तप से सिद्ध हुए को याग का फल सिद्ध होता है [अर्थात् तप से जिसने अपने फल प्राप्ति-प्रतिबन्ध दुरितों को क्षय कर दिया है उस को याग का फल मिलता है]। यह कैसे जाना जाता है ? तप दुःख रूप है। दुःख अधर्म का फल है। अधर्म याग के फल का प्रतिबन्धक (=रोकने वाला) होता है। क्योंकि अधर्म श्रेस्कर नहीं है। उस अधर्म के विद्यमान रहते हुए श्रेयः प्राप्त नहीं हो सकता है। इस कारण वह अधर्म अपनेतव्य (=दूर हटाने योग्य=नष्ट करने योग्य) है। फल के भोग से धर्म और अधर्म विरुद्ध होते हैं। इस कारण दुःख रूप फल के भोग के लिए [तप रूप] धर्म सुना जाता है। उस अधर्म ने जो दुःख उत्पन्न करना है वह यह तप है [अर्थात् अधर्म से उत्पन्न होने वाले दुःख को तप रूप दुःख से भोग लिया जाता है]। इस प्रकार तप दृष्टार्थ होता है। अदृष्ट की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। उस फल के उपभोग से अधम के क्षीण हो जाने पर अप्रतिबद्ध (=जिस को रोकने वाला कोई नहीं है ऐसा) याग फल देगा। फल की सिद्धि यजमान को करनी है, ऋत्विजों को नहीं करनी है। इस कारण तप यजमानसम्बन्धी है ।।६।।

वाक्यशेषश्च तद्वत् ।।१०।।

सूत्रार्थः— [अनशन तप विधि का] (वाक्यशेषः) वाक्यशेष (च) भी (तद्वत्) जैसे तप याजमान होता है, उसी प्रकार कहता है।

---

1. '०भोगायाधर्मः' पाठान्तरम्।

एतमेवार्थं वाक्यशेषोऽपि द्योतयति—**यदा वै पुरुषे न किञ्चनान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषोर्नश्यति; अथ मेध्यतम'** इति । यदा अनशनं तदा मेधार्ह इति । मेधश्च यज्ञो, यज्ञश्च त्यागः । त्यागं कर्तुमर्हः तपसा क्रियते इति वाक्यशेषो भवति । त्यागी च यजमानः । तस्माद् याजमानं तप इति ॥१०॥

व्याख्या—इसी अर्थ को वाक्यशेष भी द्योतित करता है—यदा वै पुरुषे न किञ्च-नान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषोर्नश्यति अथ मेध्यतमः (**=जब निश्चय ही पुरुष के अन्दर कोई** पाप नहीं होता है, तथा जब **इस की आंखों में कृष्ण समान बुराई मलिनता नष्ट हो जाती हैं, तब वह** अत्यन्त शुद्ध होता है) । **जब अनशन करता है, तब वह मेधार्ह (=यज्ञ के योग्य)** होता है । **मेध** नाम **यज्ञ का है, यज्ञ नाम त्याग का है । त्याग करने योग्य तप से किया जाता** है यह वाक्यशेष होता है । त्याग करने **वाला यजमान है । इसलिये तप यजमान सम्बन्धी है** ॥

विवरण—यदा वै पुरुषे न किंचनान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषोर्नश्यति—इन दोनों वचनों का जो अर्थ हमने ऊपर किया है, वह इसी वचन से पूर्व पठित **तदिदं रिप्र पुरुषेऽन्तः, अथो कृष्णमिव चक्षुष्यन्तः** (मै० सं० ३।६।६) के वचनों के अनुसार किया है । द्वितीय वचन का अर्थ आप० श्रौत (१०।१४।८) में टीकाकार रुद्रदत्त ने इस प्रकार किया है ।—**यक्ष्मणि लीना-तारका न दृश्यते** अर्थात् कृश होने से जब यजमान की आंखों का कृष्ण भाग पलकों में छिप जाये=अन्दर धंस जावे, तब मेध्य होता है । आपस्तम्ब श्रौत १०।१४।९ के अनुसार 'जब दीक्षित कृश होता है, तब मेध्य होता है । जब इस के भीतर कुछ नहीं रहता तब मेध्य होता है । जब इसकी त्वचा हड्डी से चिपक जाती है, तब मेध्य होता है । जब इसकी आंखों का तारा नष्ट हो जाता है=पलकों में छिप जाता है, तब मेध्य होता है ।'[2] ऐसा तप कितने दिन करे यह पूर्वोक्त सूत्र से पहले ८ वें सूत्र में कहा है='कम से कम बारह दिन दीक्षित रहता है, अर्थात् नहीं खाता । महीना भर वा संवत्सर पर्यन्त अथवा जब कृश हो जावे ।'[3] दसवें सूत्र में कहा है—'मोटा ताज़ा दीक्षित होता है, कृश यजन करता है ।'[4]

---

१. मै० सं० ३।६।६॥ अत्र 'अथ मेध्यः' इत्येव पाठः । द्र०—यदा वै दीक्षितः कृशो भवत्यथ मेध्यो भवति । यदास्मिन्नन्तर्न किञ्चन भवत्यथ मेध्यो भवति । यदास्य त्वचाऽस्थि संधीयतेऽथ मेध्यो भवति । यदास्य कृष्णं च चक्षुषोर्नश्यत्यथ मेध्यो भवति । आप० श्रौत १०।१४।९॥

२. विज्ञायते च—यदा वै दीक्षितः कृशो······मेध्यो भवति । आप० श्रौत १०।१४।९॥

३. द्वादशाहमवरार्ध्यं दीक्षितो भवति । मासं संवत्सरं यदा वा कृशः स्यादित्यपरम् । आप० श्रौत १०।१४।८॥

४. पीवा दीक्षते कृशो यजते । आप० श्रौत १०।१४।१०॥

किमेष एवोत्सर्ग:, सर्वं तपो याजमानमिति ॥

वचनादितरेषां स्यात् ॥ ११ ॥ (उ०)

वचनादितरेषाम् । यत्र वचनं, तत्र ऋत्विजाम् । यथा **सर्वे ऋत्विज उपवसन्ति**[1] इति ॥ ॥११॥

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥ १२ ॥ (उ०)

तत्र यदुक्तं समाख्यानादार्त्विजं तप इति । **गुणत्वान्न समाख्या गृह्यते । यत्र पुरुष-**

विशेष—आपस्तम्ब श्रौत के पूर्व पठित सन्दर्भों के अनुसार अत्यन्त क्षीण हुआ यजमान सोमयाग जैसे महत् कर्म को करने में कथंचिदपि समर्थ नहीं हो सकता है। अतः **विज्ञायते च कह** कर जो वचन श्रौत सूत्रकार ने उद्धृत किये हैं, उन्हें अर्थवाद मात्र जानना चाहिये। भाष्यकारोद्धृत वचन के अनुसार दो वा तीन दिन के अनशन से मनुष्य की पापप्रवृत्ति का अवरोध हो जाता है—**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः** (गीता २।५६)। यही तात्पर्य मं० सं० के पूर्व निर्दिष्ट वचन से भी विदित होता है। अनशन नहीं है अपितु **यदशितमनाशितं तदश्नीयात्** (शत० १।१।१।६) जो खाया हुआ भी न खाया हुआ होवे ऐसा अशन करे। इसीलिये पय आदि का उल्लेख यत्र तत्र शास्त्रकार करते हैं ॥१०॥

—:o:—

व्याख्या—**क्या यही उत्सर्ग (=सामान्य) नियम है कि सब तप यजमान सम्बन्धी** है ?

वचनादितेरषां स्यात् ।११॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) वचन सामर्थ्य से (इतरेषाम्) अन्य ऋत्विजों का भी (स्यात्) होवे।

व्याख्या—**वचन से अन्यों का भी तप होता है। जहां वचन होता है, वहां ऋत्विजों का भी तप होता है। जैसे**—सर्वे ऋत्विज उपवसन्ति (**=सब ऋत्विक् उपवास करते हैं**) ॥११॥

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—तप कर्म के (गुणत्वात्) गुणभूत होने से (च) भी (वेदेन) वेद से=आध्वर्यववेद में तप के पठित होने से अध्वर्यु तप करे, ऐसी (व्यवस्था) **व्यवस्था (न) नहीं** (स्यात्) होवे।

व्याख्या—जो यह कहा है—समाख्या से ऋत्विक् सम्बन्धी तप है। तप के गुणभूत

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

स्य गुणभावस्तत्र समाख्या नियामिका । १२॥ तपसो याजमानताधिकरणम् ॥३॥

—:०:—

[लोहितोष्णीषतादिनां सर्वर्त्विग्धर्मताधिकरणम् ॥४॥]

एवं वा—

श्येने श्रूयते—लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति[1] इति । तथा वाजपेये श्रूयते–हिरण्यमालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति[2]इति सन्देहः । किं श्येने उद्गातृभिर्लोहितोष्णीषता कर्त्तव्या,वाजपेये चाऽध्वर्युभिर्हिरण्यमालित्वम् उत उभयमपि सर्वर्त्विजामिति ? किं तावत् प्राप्तम् ? समाख्यानात् श्येने उद्गातृभिर्वाजपेये अध्वर्युभिरिति । एवं प्राप्ते प्राप्ते ब्रूमः—

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥ १२ ॥ (उ०)

होने से समाख्या से गृहीत नहीं होता है ॥१२॥

—:०:—

व्याख्या—अथवा इस प्रकार—

श्येन याग में सुना जाता है—लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रच- रन्ति (=लाल पगड़ी वाले लाल कपड़े वाले ऋत्विक् कर्म करते हैं) । तथा वाजपेय याग में सुना जाता है-हिरण्यमालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति (=सुवर्ण की मालावाले ऋत्विक् कर्म करते हैं) । इन में सन्देह होता है—क्या श्येन याग में उद्गाताओं को लाल पगड़ी पहननी चाहिये तथा वाजपेय में अध्वर्यु को सुवर्ण माला वाला होना चाहिये अथवा दोनों ही धर्म सब ऋत्विजों के हैं ? क्या प्राप्त होता है ? समाख्या से श्येनयाग में उद्गाताओं को और वाजपेय में अध्वर्यु को उन गुणो से युक्त होना चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—समाख्यानात्—श्येन याग की उत्पत्ति सामवेद में है । अतः उसकी औद्गात्र संज्ञा होने से उद्गाताओं को ही लाल पगड़ी धारण करनी चाहिये । वाजपेय की उत्पत्ति यजुर्वेद में है । अतः उसकी आध्वर्यव संज्ञा होने से अध्वर्युओं को ही सुवर्ण की माला धारण करनी चाहिये ।

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्

सूत्रार्थः—लोहितोष्णीषता और हिरण्यमालिता के (गुणत्वात्) गुणभूत होने से (च) भी

---

१. द्र०—लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति । षड्विंश ब्रा० ३।८॥ ······ लोहितवसना······ । आप० श्रौत २२।४।२३॥

२. द्र०—हिरण्यमालिन ऋत्विजः सुत्येऽहनि प्रचरन्ति ॥ आप० श्रौत १४।२।११॥

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् । गुणो लोहितोष्णीषता हिरण्यमालित्वं च पुरुषः प्रधानम् । अतो लोहितमुष्णीषं हिरण्यमाला च पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते, न कर्त्तव्यतया । तस्मात् पुरुषप्राधान्यम् । किमतो यद्येवं पुरुषाणां प्रधानभावे समाख्या न नियामिका इत्येतदुक्तम्[1] । अपि च, गुणत्वश्रवणात् सर्वपुरुषाणामेतद्विधानमिति गम्यते । प्रधानसन्निधौ हि गुणः शिष्यमाणः प्रतिप्रधानमुपदिष्टो भवति । तत्र वचनेन प्राप्तं, कथं समाख्यया विद्यमानयापि नियन्तुं शक्येत । तस्मादुभयत्र सर्वर्त्विग्भिरेवञ्जातीयको धर्म्मः क्रियेतेति ॥१२॥ **लोहितोष्णीषताऽऽदीनां सर्वर्त्विग्धर्मताधिकरणम्॥४॥**

—:o:—

[वृष्टिकामनाया याजमानताधिकरणम् ॥५॥]

ज्योतिष्टोमे समामनन्ति—**यदि कामयेत वर्षेत् पर्जन्य इति नीचैः सदो मिनुयाद्**[2] इति । तत्र सन्देहः—किम् आर्त्विजः कामोऽथ याजमान इति ? किमेवम् ? यदि कामयेताध्वर्यु रिति उत यजमान इति एवं संशयः । किं प्राप्तम् ? आर्त्विजः कामः । समा-

---

(वेदेन) औद्गात्र और आध्वर्यव वेद से (व्यवस्था) व्यवस्था (न) नहीं (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—गुण भूत होने से भी वेद से व्यवस्था नहीं होगी । लोहितोष्णीषता और हिरण्यमालित्व गुण भूत हैं पुरुष प्रधान है । इस कारण लाल पगड़ी और सुवर्णमाला पुरुष के विशेषण रूप से सुनी जाती है, कर्त्तव्यता के रूप से नहीं सुनी जाती । इस कारण पुरुष का प्राधान्य है । इस से क्या यदि ऐसा है ? पुरुषों के प्रधान भाव (= प्रधानता) में समाख्या नियामिका नहीं होती है यह कह चुके । और भी [लोहित उष्णीष तथा सुवर्णमाला के] गुणत्व का श्रवण होने से सब पुरुषों का यह विधान है, ऐसा जाना जाता है । प्रधान की समीपता में कहा गया गुण प्रति प्रधान उपदिष्ट होता है । वहां वचन से [सब पुरुषों को] प्राप्त गुण विद्यमान समाख्या से भी कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है ? इस लिये दोनों (=लोहितोष्णीषत्व और हिरण्यमालित्व) के विषय में सब ऋत्विजों के द्वारा इस प्रकार का धर्म किया जाता है [अर्थात् सब ऋत्विजों के साथ संबद्ध होता है] ॥१२॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में पढ़ते हैं—यदि कामयेत वर्षेत् पर्जन्य इति नीचैः सदो मिनुयात् (=यदि कामना करे कि पर्जन्य बरसे तो सदः मण्डप का नीचे मान करे) । इस में सन्देह होता है—क्या यहां ऋत्विक् सम्बन्धी कामना है । अथवा यजमान सम्बन्धी ? इस प्रकार होने से क्या होगा ? यदि अध्वर्यु कामना करे अथवा यजमान कामना करे इस प्रकार संशय होता है । क्या प्राप्त होता है ? ऋत्विक् सम्बन्धी कामना है [आध्वर्यव] समाख्या से ।

---

१. मी० भाष्य ३।८।६॥
२. मै० सं० ३।८।६॥

ख्यानात् । अर्थी प्रकृतोऽध्वर्युः । स वाक्येन सम्बध्यते, मिनुयादिति । तस्माद् आर्त्विजः काम इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥ १३ ॥ (उ०)

तथा कामः स्यात् यथा तपः। याजमानः काम इत्यर्थः। कुतः ? **अर्थसंयोगात्।** अर्थेन यागस्य साऽङ्गस्य यजमानः फलेन सम्बध्यते इति गम्यते। उपग्रहविशेषाद् **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इति । उपग्रहविशेषाच्च मिनुयादित्यध्वर्युः परार्थमिति गम्यते । अथ यदुक्तं—प्रकृतेनार्थिना सहैकवाक्यत्वादिति । उच्यते । एवमपि प्रकृतेन वाक्येन सहैकवाक्यता । यजमाने कामयमाने मिनुयादिति ॥१३॥

प्रकृत अध्वर्यु अर्थी है । वह वाक्य से सम्बद्ध होता है—मिनुयात् (=मान करे) । इस लिये **ऋत्विक् सम्बन्धी कामना है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण—सदोमण्डप का यह नीचा अथवा 'न बरसने की कामना में' ऊंचा मान सदोमण्डप में गाड़ी गई औदुम्बरी की दृष्टि से जाना चाहिये। द्र० **सदसो नीचैस्त्वोच्चैस्त्वे त्वौदुम्बर्या एव नीचोच्चत्वाभ्यामिति** द्रष्टव्यम् (आप० श्रौत ११।१०।७ रुद्रदत्तीय व्याख्या) । काठक सं० २५।१० तथा कठ कपि० सं० ४०।३ में वर्षा के समय द्यौ (=मेघ) के नीचे और अवर्षा के समय द्यौ (मेघ) के ऊंचे होने से समानता दर्शाई है। सदोमण्डप की जो छदि (=ऊपर का चटाई का आच्छादन) की मेघ से समानता कही है।

तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(तथा कामः) काम=कामना भी वैसे ही है जैसे तप अर्थात् कामना भी तप के समान यजमान से सम्बद्ध है (अर्थसंयोगात्) अर्थ=फल से साङ्गयाग के यजमान के सम्बद्ध होने से।

व्याख्या—**उसी प्रकार काम** =(कामना) **होवे जैसे तप अर्थात् यजमान से सम्बद्ध काम** होवे । किस हेतु से ? **अर्थ के साथ संयोग** होने से। **साङ्ग याग का यजमान अर्थ=फल से सम्बद्ध होता है,** ऐसा जाना जाता है । उपग्रह विशेष (=आत्मनेपद) से ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामना वाला यजमान यजन करे) में [**यजमान फल से सम्बद्ध** जाना जाता है] और उपग्रह विशेष (=परस्मैपद) से मिनुयात् (=मान करे) में अध्वर्यु परार्थ मान करता है, यह जाना जाता है । और जो यह कहा है—**प्रकृत अर्थी के साथ एक वाक्यता होने से अध्वर्यु** [काम से संयुक्त होता है] । इस विषय में कहते हैं। **इस प्रकार** (=काम के यजमान सम्बन्धी होने पर) भी **प्रकृत वाक्य के साथ एकवाक्यता होती है—यजमान के कामना करते हुए** मिनुयात्=अध्वर्यु **सदोमण्डप का नीचा मान करे** (=नीचा बनावे) ॥१३॥

---

२. द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत । आप०

व्यपदेशादितरेषां स्याद् ॥ १४ ॥

यत्र भवति व्यपदेशस्तत्रार्त्विजः कामो भवति। तद्यथा—**उद्गाता आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते, तमागायति'** इति। यद्यात्मने इति यजमानायेति परिकल्प्येत, यजमानग्रहणं वाशब्दश्च न समर्थितौ स्याताम्। तस्माद् यजमानव्यपदेशादात्मानमेवोद्गाता प्रतिनिर्दिशतीति गम्यते ॥ १४ ॥ **वृष्टिकामनाया याजमानताधिकरणम्** ॥ ५ ॥

—:०:—

[आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताधिकरणम् ॥१६॥]

इहैवञ्जातीयका मन्त्रा उदाहरणम्—**आयुर्दा अग्ने ऽस्यायुर्मे**[2] **देहि**[3] इति, **वर्चोदा**

व्यपदेशाद इतरेषां स्यात् ॥१४॥

सूत्रार्थः - (व्यपदेशात्) कथन=निर्देश होने से (इतरेषाम्) अन्यों=ऋत्विजों का काम के साथ सम्बन्ध (स्यात्) होवे ॥

व्याख्या—**जहां कथन होता है, वहां ऋत्विजों का काम सम्बन्ध होता है। जैसे**— उद्गाता आत्मने वा यजमानाय वा यं काम कामयते तमागायति (=**उद्गाता अपने वा यजमान के जिस काम की कामना करता है उस का गान करता है**)। **इसमें यदि** आत्मने **का अर्थ 'यजमान के लिए' कल्पित किया जाये तो यजमान का ग्रहण और वा शब्द का ग्रहण समर्थित न होवें [अर्थात् अनावश्यक हो जावें]। इस कारण यजमान के व्यपदेश (=कथन) से अपने को ही उद्गाता निर्दिष्ट करता है, ऐसा जाना** जाता है।

विरवण—उद्गाताऽऽत्मने वा इत्यादि वचन शत० १४।४।१।३३ (मा० बृ० उ० १।१।३३) के मधुविद्या प्रकरण में प्राणोपासना में पठित है। इसका भाव यह है कि जो प्राणविद उद्गाता है, वह तीन पवमान (=बहिष्पवमान, माध्यन्दिन पवमान, आर्भवपवमान) स्तोत्रों में यजमान के लिये उद्गान के अनन्तर अवशिष्ट ९ स्तोत्र (=आज्य, पृष्ठ्य, अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, रात्रि, सन्धि, आप्तोर्याम, वाजपेय संज्ञक स्तोत्र) अपने लिये अन्नाद्य का आगान करे=आगान से अन्नाद्य काम को सम्पादित करे। इस कारण इसप्रकार प्राणवित् उद्गाता अपने लिये वा यजमान के लिये जिसकी इच्छा करता है उस को आगान से प्राप्त करता है। उपर्युक्त ३ पवमान तथा अन्य आज्य आदि ९ स्तोत्र=१२ स्तोत्र सोमयाग की संस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं (द्र० यज्ञतत्त्व प्रकाश, सोमयागप्रकरण) ॥१४॥

—:०:—

व्याख्या—यहां इस प्रकार के मन्त्र उदाहरण हैं— आयुर्दा अग्ने आयुर्मे देहि (=

---

१. शत० ब्रा० १४।४।१।३३॥

२. काशीमुद्रिते 'अग्ने आयुर्मे' इत्यपपाठः। ३. तै० सं० १।५।५।३॥

अग्ने असि वर्चो मे देहि' इति । एषु सन्देहः—किम् आर्त्विजा उत याजमाना इति । समाख्यानादार्त्विजा इति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् ॥ १५ ॥ (उ०)

मन्त्राश्चैते तद्वद् भवेयुर्यथा कामः । एवमात्माभिधायिपदं युक्तं भवति । आयुर्मे वर्चो मे इति । आयुर्वर्च इत्येवमादिभिः कर्म्मफलमभिधीयते । अग्ने त्वं कर्म्मफलं मे साधयेति । तदिह कर्म्मफलमुत्साहार्थं सङ्कीर्त्यते । यजमानश्च तेन उत्सहते, नान्यः । यद् ऋत्विजः कर्मफलं, न तदर्थोऽग्निः । सिद्धं हि तत् । यद् यजमानस्य तदर्थोऽग्निः । तच्चासिद्धंहं सद् आशासितव्यं, यदुत्साहं जनयत्यऽवैगुण्याय । ऋत्विगपि सिद्धे यदुत्सहते, तद् यजमानस्यैव कर्मफलायोत्सहते । तत्रात्माभिधायिपदं नावकल्पते । यजमाने

हे अग्ने ! तुम आयु के देने हारे हो, मुझे आयु दो), वर्चोदा अग्ने असि वर्चो मे देहि (=हे अग्ने ! तुम वर्चः के देने वाले हो, मुझे वर्चः दो) । इन में सन्देह होता है ये मन्त्र ऋत्विक् सम्बन्धी हैं, अथवा यजमान सम्बन्धी ? [अर्थात् आयु और वर्चः की कामना ऋत्विक् करता है अथवा यजमान ?] [आध्वर्यव] समाख्या से ऋत्विक् सम्बन्धी हैं, ऐसा प्राप्त होता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(अकर्मकरणाः) जिनसे कोई कर्म नहीं किया जाता है वे (मन्त्राः) आयुर्दा अग्ने असि आयुर्मे देहि आदि मन्त्र (च) भी (तद्वत्) उसी प्रकार होवें जैसे काम=कामना कही है । अर्थात् जैसे पूर्व अधिकरण में कामना यजमान-सम्बन्धी कही है । उसी प्रकार यह आशीः भी यजमान सम्बन्धी ही है ।

व्याख्या—ये मन्त्र भी उसी प्रकार होवें जैसे कामना है । इस प्रकार मानने पर आत्माभिधायी (=अपने को कहने वाला) पद भी युक्त होता है । आयुर्मे, वर्चो मे । आयुः वर्चः इत्यादि पदों से कर्म का फल कहा जाता है—हे अग्ने तुम कर्म का फल मेरे लिए सिद्ध करो । यहां कर्म का फल उत्साह के लिये कहा जाता है । उस से यजमान उत्साहित होता है, अन्य नहीं । ऋत्विक् का जो कर्म का फल है, उस के लिए अग्नि नहीं है, वह [कर्म फल=दक्षिणा] सिद्ध ही है । जो यजमान का कर्म फल है, उस के लिए अग्नि है, और वह]यजमान का कर्मफल-आयु आदि] असिद्ध होता हुआ आशंसा (=चाहना) के योग्य होता है, जो कर्म की अविगुणता के लिए उत्साह उत्पन्न करता है । ऋत्विक् भी सिद्ध (=कर्मफल=दक्षिणा) के प्रति जो उत्साहित होता है, वह यजमान के ही कर्म फल के लिए उत्साहित होता है । वहां (=ऋत्विक् में) अपने को कहने वाला 'मे' पद समर्थित नहीं होता है । यजमान में आत्माभि-

---

१. तै० सं० १।५।५।४॥

चात्माऽभिधायिपदं कल्प्यमानमगौणं भवति, तस्माद् याजमानाः ॥१५॥

विप्रयोगे च दर्शनात् ॥ १६ ॥ (उ०)

विप्रयोगे चाग्नीनां प्रवासे उपस्थानमस्ति । **इह एव सन् तत्र सन्तं त्वाग्ने**[1] **इति ।** न च प्रोषितोऽग्निभ्य ऋत्विग् भवति । कर्म कुर्वत एष वाचकः शब्दः । भवति तु यजमानोऽग्निभ्यः प्रोषितोऽपि । **यजमानः संविधाय सोऽग्निहोत्राय प्रवसति**[2] । शक्यते च विदेशस्थेनापि त्यागः कर्तुम् । स एव प्रोषितस्योपस्थानविशेषं ब्रुवन् यजमानस्योपस्थानं दर्शयति । तेनैव एवञ्जातीयका यजमानस्य भवेयुरिति ॥१६॥ **आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताधिकरणम् ॥६॥**

—:o:—

[द्व्याम्नातस्योभयप्रयोज्यताधिकरणम्] ॥७॥

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र द्व्याम्नाता मन्त्रा आध्वर्यवे काण्डे याजमाने च । आज्यं यंगृह्यते—**पञ्चानां त्वा वातानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि**[3] इत्येवमादयः । तथा स्रुग्व्यूहन-

---

वायी 'मे' पद समर्थित हुआ गौण नहीं होता है । इस कारण एतादृक् मन्त्र यजमान सम्बन्धी हैं ॥१५॥

विप्रयोगे च दर्शनात्॥१६॥

सूत्रार्थः—(विप्रयोगे) प्रवास में=यजमान के देशान्तर में जाने पर (दर्शनात्) दर्शन से (च) अकर्मकरण मन्त्र याजमान हैं ।

व्याख्या—**विप्रयोग=प्रवास में अग्नियों का उपस्थान है**—इह एव सन् तत्र सन्तं त्वाग्ने (=हे अग्ने ! यहां=प्रवास में होता हुआ ही मैं वहां=गृह में वर्तमान तुम्हारा उपस्थान करता हूं) । अग्नियों से प्रोषित (=दूरस्थ) ऋत्विक् नहीं होता है, क्योंकि यह [ऋत्विक् शब्द] कर्म करते हुए का वाचक है । यजमान तो अग्नियों से दूरस्थ भी होता है यजमानः संविधाय सोऽग्निहोत्राय प्रवसति (=यजमान अग्निहोत्र के लिए संविधान=व्यवस्था करके वह प्रवास करता है) । विदेश यजमान के द्वारा त्याग किया जा सकता है [अर्थात् यज्ञ काल में विदेश में वर्तमान यजमान इदमग्नये न मम इस प्रकार का त्याग कर ही सकता है । यह प्रोषित के उपस्थान विशेष को कहता हुआ यजमान के उपस्थान को दर्शाता है । इस कारण इस प्रकार के मन्त्र यजमान के होवें ॥१६॥

—:o:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास याग हैं । उनमें दो काण्डों में आम्नात मन्त्र=आध्वर्यवकाण्ड और यजमानकाण्ड में पठित हैं । जिन मन्त्रों से आज्य का ग्रहण किया जाता है—पञ्चानां त्वा वातानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि (=हे आज्य ! मैं तुझे दिशा भेद से पांच प्रकार

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अनुपलब्धमूलम् । ३. तै० सं ६।१।२॥

मन्त्राः—स्रुचौ व्यूहति—वाजस्य मा प्रसवेन¹ इति । तत्र सन्देहः—किं ते उभाभ्यामपि कर्त्तव्या उत अध्वर्युणैवेति ? किं प्राप्तम् ? समाख्यानादाध्वर्यवा इति प्राप्ते उच्यते—

के वायुवों के नियमन और धारण करने के लिए ग्रहण करता हूं) इत्यादि तथा स्रुक् के व्यूहन के मन्त्र—स्रुचौ व्यूहति—वाजस्य मा प्रसवेन (=जुहू और उपभृत् संज्ञक स्रुचों का व्यूहन करता है—वाजस्य मा प्रसवेन (=अन्न के प्रसव हेतु मुष्टि से जुहू के ऊर्ध्व ग्रहण से मुझ= यजमान को इस लोक से ऊर्ध्व उठाता है) । इन में सन्देह होता है—क्या ये कर्म दोनों (= अध्वर्यु और यजमान) से किये जाने चाहियें अथवा अध्वर्यु से ही ? क्या प्राप्त होता है ? [आध्वर्यव] समाख्या से अध्वर्यु के कर्म है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—द्व्याम्नाता मन्त्राः— द्वयोःस्थानयोः आम्नाताः=दो स्थान में पठित मन्त्र । इसे ही स्पष्ट किया है—**आध्वर्यवे काण्डे याजमाने च** से । स्वयं सूत्रकार ने दो काण्डों में समान मन्त्र के पाठ का सूत्र द्वारा निर्देश किया है । भाष्यकार द्वारा प्रदत्त उदाहरण भी परम्परा प्राप्त होने से सूत्रकार द्वारा अनुमोदित माने जा सकते हैं । सम्प्रति जो वैदिक संहिताएं और ब्राह्मण मिलते हैं उनमें हमें ये मन्त्र आध्वर्यव और यजमान दो काण्डों में पठित नहीं मिले । क्या यह सम्भव हो सकता है कि याजुष संहिताओं में एक बार पठित होने पर भी अध्वर्यवकाण्ड में और उसी के एक देशभूत याजमान काण्ड में पठित होने से दो काण्डों में समाम्नात कहा हो । तै० सं० १।६।१ में जहां आज्य ग्रहण मन्त्र पढ़े हैं, वह याजमानकाण्ड कहाता है । याजमानकाण्ड में पठित **आज्यं यैर्गृह्यते**—इन आगे पठित मन्त्रों से आज्य का ग्रहण नहीं होता है अपितु स्रुवा से एक-एक करके जुहू आदि में आज्य लेकर अनुमन्त्रण किया जाता है—**आज्यग्रहाणां गृहीतं गृहीतमनुमन्त्रयते पञ्चानां त्वा वातानाम्** (बौ० श्रौत ३।१६, पृष्ठ ७७, पं० ३-१२) । **पञ्चानां त्वा वातानाम्**—'पांच दिशाओं की वायुएं' यह अर्थ सायण ने **यत्ते रुद्र पुरोधनुः** इत्यादि (तै० सं० ५।५।७) के अनुसार किया है । अध्यात्म में पांच वात हैं—प्राण अपान समान व्यान उदान । शरीर में इन वातों को शरीर धारण=बनाये रखने के लिये और विकृत हुए वातों को नियन्त्रित करने के लिये विविध प्रकार के घृतों का आयुर्वेद में वर्णन मिलता है । **स्रुग्व्यूहन मन्त्राः**—व्यूहन=विविध गमन । जुहू को पूर्व में वेदि के दक्षिणांस तक और उपभृत् को पश्चिम में वेदि की उत्तर श्रोणि तक चलाना=ले जाना=प्रेरित करना । इस की क्रिया इस प्रकार होती है—अनुयाज कर्म के अनन्तर अध्वर्यु वेदि के उत्तर में आकर यथास्थान स्रुचों को रखकर यजमान के साथ जुहू को ऊपर उत्तान दक्षिण हाथ से ग्रहण करता है । इसी प्रकार नीचे बांयें हाथ से नीचे से उपभृत् को अध्वर्यु यजमान ग्रहण करते हैं । तत्पश्चात् दोनों प्रागग्र जुहू को वेदि के [पूर्वदिशा के] दक्षिण अंस पर्यन्त प्रेरित करते हैं । उसी प्रकार उपभृत् को पश्चिम में अग्र भाग करके [पश्चिम में] वेदि की उत्तर श्रोणि पर्यन्त प्रेरित करते हैं । यह कर्म स्रुग्व्यूहन कहाता है (द्र० श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृष्ठ ३६, संख्या ३०२) । यह शाब्दिक लेख स्रुग्व्यूहन का है । यथार्थ ज्ञान क्रिया के अवलोकन से ही हो सकता है ।

---

१. बौ० श्रौत १।१९; पृष्ठ २८, पं० १० ।

द्वयाम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्यार्थवत्त्वात् ॥१७॥ (उ०)

उभावपि तान् प्रयुञ्जीयातामिति। कुत, ? द्व्याम्नानस्यार्थवत्त्वात्। द्वाभ्यां समाख्यानाद् द्वावपि कर्त्तारौ गम्येते तस्माद् द्वौ ब्रूयाताम्। अध्वर्यु:—एतेन प्रकाशितमनुष्ठास्यामीति। याजमानो—न प्रमदिष्यामीति ॥१७॥ द्वयाम्नातस्योभयप्रयोज्यताधिकरणम् ॥१७॥

—:०:—

वाजपेये श्रूयते—क्लृप्तीर्यजमानं वाचयति[1] उज्जितीर्यजमानं[2] वाचयति[3] इति। अत्र

द्वयाम्नातेषूभौ द्वयम्नानस्यार्थबत्त्वात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(द्वयाम्नातेषु) दो=आध्वर्यव और याजमानकाण्डों में पठित मन्त्रों में (उभौ) दोनों अधिकृत होते हैं। (द्वयाम्नानस्य) दो के लिये पाठ के (अर्थवत्त्वात्) प्रयोजनवान् होने से।

व्याख्या—दोनों (=अध्वर्यु और यजमान) ही उन मन्त्रों का प्रयोग करें। किस हेतु से ? दो के लिए आम्नान के अर्थवान् होने से। दोनों से (=अध्वर्यु से आध्वर्यव काण्ड और यजमान से याजमान काण्ड) कहे जाने से दोनों (=अध्वर्यु और यजमान) ही कर्त्ता जाने जाते हैं। इस लिये दोनों मन्त्र बोलें। अध्वर्यु 'इस मन्त्र से प्रकाशित कर्म का अनुष्ठान करूंगा' [इस प्रयोजन के लिए] और यजमान 'मैं प्रमाद नहीं करूंगा' [इस प्रयोजन के लिये]।

विवरण—तस्माद् द्वौ ब्रूयाताम्—अध्वर्यु कर्म करने के लिये मन्त्र का पाठ करे और यजमान अप्रमाद के लिये। कात्या० श्रौत ३।६।१७ में व्यूहन कर्म को यजमान कर्त्तृक कहा है। तत्पश्चात् १९ वें सूत्र में पक्षान्तर में अध्वर्यु कर्तृक भी माना है। परन्तु अध्वर्यु कर्तृक पक्ष में मन्त्र के **अनुज्जेषम्** के स्थान में '**अनुजयत्वयं यजमानः**' और दूसरे मन्त्र में **योस्मान् द्वेष्टि यं च वयम्** के स्थान में **यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि** ऊह करने का विधान किया है। मन्त्र पाठ गत '**मा**' पद प्रयोग से व्यूहन कर्म को यजमान कर्तृक मानना उचित है। जैसे पूर्व अधिकरण में **आयुर्मे देहि** मन्त्र गत '**मे**' पद सामर्थ्य से इसे याजमान कहा है, उसी प्रकार यहां भी होना चाहिये। इस दृष्टि से कात्या० श्रौत का विधान अधिक युक्ति संगत है ॥१७॥

—:०:—

व्याख्या—वाजपेय याग में सुना जाता है—क्लृप्तीर्यजमानं वाचयति (=यजमान को क्लृप्तियां बुलवाता है), उज्जितीर्यजमानं वाचयति (=यजमान को उज्जितियां

---

१. अनुपलब्धमूलम्। क्वचिच्छाखायां श्रूयत इति कुतुहल वृत्तिकारः।

२. काशीमुद्रिते 'उज्जिसतीर्यजमानं' इत्यपपाठः।

३. आप० श्रौत १८।४।१९॥

सन्देह—किं ज्ञश्चाज्ञश्च सर्वो वाचयितव्य, उत ज्ञ एवेति ? किं प्राप्तम् ? अविशेषाज्ज्ञश्चाज्ञश्चेति—

ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽहितोऽस्ति ॥ १८ ॥ (उ०)

ज्ञ एवेति। कुतः ? न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति। यो ह्यविद्वान्नासावधिकृतः, सामर्थ्याभावात्। ननु प्रयोगकाले शिक्षित्वा प्रयोक्ष्यते, सामर्थ्यादधिक्रियेतेति ? नेति ब्रूमः। वेदाध्ययनादुत्तरकाले प्रयोगः श्रूयते। न प्रयोगश्रुतिगृहीतं वेदाध्ययनम्। कुतः ? अना-

---

बुलवाता है)। इस में सन्देह होता है—क्या ज्ञ (=जाननेवाला) और अज्ञ सब को बुलवानी चाहिये अथवा ज्ञ को ही। क्या प्राप्त होता है ? विशेष का निर्देश न होने से ज्ञ और अज्ञ सब को बुलवानी चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते है—

विवरण–क्लृप्तीर्यजमान वाचयति—वाजपेय याग के प्रकरण में **आयुर्यज्ञेन कल्पताम्** आदि मन्त्र पढ़े हैं (तै० सं० १।७।९)। उनको पढ़कर किसी शाखा में **क्लृप्तीर्यजमानं वाचयति** वचन सुना जाता है (द्र०—कुतुहल वृत्तिकार)। 'कल्पताम्' पद से जिस आशी की प्रार्थना यजमान करता है, उसे ही क्लृप्ति पद से कहा गया है। क्लृप्ति में कृपू=क्लृपू सामर्थ्ये धातु से **क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्** (अष्टा० ३।३।१७४) से आशीर्विषयक संज्ञा में क्तिच् प्रत्यय होता है। **उज्जितीर्यजमानं वाचयति**—वाजपेय के प्रकरण में ही **अग्निरेकाक्षरेण वाचमुदजयत्** (तै० सं० १।७।११) आदि मन्त्र पढ़े हैं। इन में उद् पूर्वक जि जये धातु का प्रतिमन्त्र प्रयोग है। इन्हीं को यहां उज्जिति शब्द से कहा है। उज्जिति में भी पूर्ववत् आशीर्विषयक संज्ञा मे क्तिच् प्रत्यय जानना चाहिये। भाष्यकार पठित वचन आप० श्रौत १८।४।१९ में मिलता है।

ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति ॥१८॥

सूत्रार्थः—(ज्ञाते) जाननेवाले के विषय में (च) ही (वाचनम्) बुलवाना कहा है। (अविद्वान्) अज्ञ पुरुष यज्ञ कर्म में (नहि) नहीं (विहितोऽस्ति) विहित=अधिकृत है। विद्वान् को ही कर्म में अधिकार है।

विशेष—सूत्र में 'ज्ञाते' पद में कर्ता में क्त जानना चाहिये, क्योंकि अविद्वान् की प्रतिद्वन्द्विता में इस का सूत्रकार ने प्रयोग किया है। इसी प्रकार चकार यहां एव अर्थ में है।

व्याख्या—ज्ञ (=विद्वान्) को ही क्लृप्ति आदि बुलवानी चाहिये। किस हेतु से ? अविद्वान् कर्म में विहित नहीं है। जो अविद्वान् है वह कर्म में अधिकृत नहीं है [कर्म करने का] सामर्थ्य न होने से। (आक्षेप) प्रयोग काल (=यज्ञ करते समय) में सिखा कर बुलवा लेंगे [इस प्रकार] सामर्थ्य होने से [अज्ञ भी कर्म में] अधिकृत होवे। (समाधान) ऐसा नहीं है। वेदाध्ययन के उत्तरकाल (=पश्चात्) कर्म का प्रयोग सुना जाता है। प्रयोग वचनों से विहित वेदाध्ययन नहीं है। किस हेतु से ? कर्म का आरम्भ न करके (=कर्म का प्रकरण न होने पर)

रभ्य कर्मणि वेदाध्ययनं[1] श्रूयते—**तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य**[2] इति सत्येतस्मिन् वचने, **अग्नि-होत्रं जुहुयाद्**[3] इत्येवमादिभिर्वेदोऽध्येतव्य इत्येतदुक्तं भवतीति न शक्यते कल्पयितुम्। तत्र होममात्रे चोदिते वेदाध्यायी शक्त इत्यधिक्रियते, नाविद्वान्। कियता पुनर्विदितेन विद्वानधिक्रियते इति ? यावता विदितेन शक्तो भवति यथोक्तं क्रतुमभिनिर्वर्त्तयितुम्। तस्माद् तावद् यो वेद स तेन क्रतुनाऽधिक्रियते॥

ननु **वेदमधीयीत**[4] इति वचनात् कृत्स्नो वेदोऽध्येतव्य इति भवति, न वेदाऽवयवे नाधिक्रियते इति। उच्यते, क्रतूनां ज्ञानार्थं वेदाध्ययनं कार्य्यम्। तत्रान्यस्मिन् क्रतौ कर्त्तव्येऽन्यक्रतुज्ञानं न दृष्टाय भवति। तस्मात् क्रत्वन्तरज्ञानमधिकारे नादर्त्तव्यम्। क्रत्वन्तरज्ञानाय क्रत्वन्तरग्रन्थः। सर्वे क्रतवः कथं ज्ञायेरन् पृथक् पृथगिति कृत्स्नस्य वेदस्याध्ययनं श्रूयते। तस्मात् स्वपदार्थज्ञोऽधिक्रियेतेति। तेनास्वपदार्थज्ञस्य कर्मैव

वेद का अध्ययन सुना जाता है—तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य (=इस कारण वेद का अध्ययन करना चाहिये)। इस वचन के होने पर अग्निहोत्रं जुहुयात् इत्यादि वचनों से 'वेद का अध्ययन करना चाहिए' यह उक्त होता है ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है। वहां (=अग्निहोत्र आदि के विधायक वचनों में) होम मात्र के कहने पर वेदाध्यायी समर्थ है, इस से विद्वान् अधिकृत किया जाता है, अविद्वान् अधिकृत नहीं किया जाता। (आक्षेप) तो फिर कितना जानने से विद्वान् अधिकृत किया जाता है? (समाधान) जितना जानने से यथोक्त क्रतु को सम्पन्न करने के लिए समर्थ होता है। इस कारण उतना जो जानता है, वह उस क्रतु से अधिकृत किया जाता है।

(आक्षेप) वेदमधीयीत (=वेद को पढ़े) इस वचन से सम्पूर्ण वेद अध्ययन करना चाहिये ऐसा विदित होता है, वेद के अवयव (=क्रतु उपयोगी भाग) [के ज्ञान] से अधिकृत नहीं किया जाता है। (समाधान) यज्ञों के ज्ञान के लिए वेद का अध्ययन करना चाहिये। उस अवस्था में अन्य क्रतु के कर्त्तव्य होने पर अन्य क्रतु का ज्ञान दृष्टार्थ नहीं होता है। इस कारण क्रत्वन्तर का ज्ञान [कर्म के] अधिकार में आदरणीय नहीं है। क्रत्वन्तर के ज्ञान के लिए क्रत्वन्तर का ग्रन्थ है। सब क्रतु पृथक् पृथक् कैसे जाने जायें, इसके लिए सम्पूर्ण वेद का अध्ययन सुना जाता है (=उपदिष्ट है)। इस लिए अपने क्रियमाण क्रतु के पदार्थ को जानने वाला अधिकृत होता है। इस हेतु से अपने क्रियमाण कर्म के पदार्थ को न जानने वाले का कर्म ही नहीं है। कैसे

---

१. काशी मुद्रिते 'वेदे श्रूयते' इत्येव पाठः सोऽपि सम्भवति।

२. शत० ब्रा० ११।५।७।२, ३, ४,१०॥

३. तै० सं० १।५।६॥

४. अनुपलब्धमूलम्॥

नास्ति । कथमसौ वाच्येत । तस्मात् साध्वभिधीयते ज्ञ एव वाचयितव्य इति ॥१८॥
अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यताधिकरणम् ॥८॥

—:०:—

[द्वादशद्वन्द्वानाम् आध्वर्यवत्वाधिकरणम् ॥९॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र कर्माण्याम्नातानि द्वादश — **वत्सं चोपावसृजति, उखाञ्चाधिश्रयति, अव च हन्ति, दृषदुपले च समाहन्ति, अधि च वपते, कपालानि चोपदधाति, पुरोडाशं**

वह बुलवाया जायेगा। इस लिये यह ठीक कहा है—जानने वाला ही [क्लृप्ति आदि के] बुलवाने योग्य होता है।

विवरण — यावता विदितेन समर्थो भवति—इस का यह तात्पर्य नहीं है कि जो-जो कर्म करना चाहे वेद के उस उस भाग को पढ़ ले। कर्म में गृहस्थ अधिकृत है। वेदाध्ययन ब्रह्मचर्य काल उपदिष्ट है। उसी के लिये वेदारम्भ संस्कार विहित है। **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयोज्ञेयश्च** (ब्राह्मण का यह निष्काम धर्म है कि वह छहों अङ्गों सहित वेद का अध्ययन एवं ज्ञान करे) इस महाभाष्य में निर्दिष्ट वचन से तथा **वेदानधीत्य वेदौ वा** इस मनुस्मृति (३।२) के वचन से गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकार उसे ही दिया है जो न्यूनातिन्यून साङ्ग एक वेद को पढ़ चुका है। अतः यह निर्विवाद है कि न्यूनातिन्यून एक साङ्ग वेद को ब्रह्मचर्य काल में पढ़ने का ही **स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः** वचन में आदेश है। अतः भाष्यकार का उक्त कथन प्रौढिवाद मात्र है। **अन्यक्रतुज्ञानं दृष्टाय भवति**—भाष्यकार का यह कथन वेद का केवल कर्मज्ञान ही प्रयोजन है। इस याज्ञिक मत की दृष्टि से है। वेद का मुख्य प्रयोजन तो आधिदैविक (=अग्न्यादि देवों का) और आध्यात्मिक (शरीर आत्मा और परमात्मा का) ज्ञान कराना है। अतः कृत्स्न वेद का अध्ययन भी दृष्टार्थ ही है। शाङ्खायन गृह्य १।२।४,५ में कहा है—

न श्रुतमतीयात् (श्रुत का अतिक्रमण न करे)।
अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्।
मन्त्रेषु ब्राह्मणे चैव श्रुतमित्यभिधीयते ॥

अर्थात्—मन्त्रों और ब्राह्मणों में कहा गया अधिदैव अध्यात्म और अधियज्ञ ज्ञान श्रुत कहाता है ॥१८॥

—:०:—

व्याख्या — **दर्शपूर्णमास** पठित हैं। उन में बारह कर्म आम्नात हैं — **वत्सं चोपावसृजति उखां चाधिश्रयति** (=गाय को दूहने से लिए अध्वर्यु बछड़े को खूंटे से छोड़ता है, और दूध गरम करने के लिए बटलोई का गार्हपत्य अग्नि पर चढ़ाता है), **अव च हन्ति, दृषदुपले च**

च अधिश्रयति आज्यं च, स्तम्बयजुश्च हरति अभि च गृह्णाति, वेदिं परिगृह्णाति, पत्नीं च सन्नह्यति, प्रोक्षणीश्चासादयति आज्यं च। एतानि वै द्वादश द्वन्द्वानि दर्शपूर्णमासयोः'[1] इति। अत्र सन्देहः – किमेतान्यध्वर्योः कर्म्माणि, उत यजमानस्येति। किं प्राप्तम् ?

समाहन्ति (=व्रीहि को कूटता है, और पाषाण वा शम्या से दृषद् उपल=शिला और लोढी को टांचता है), अधि च वपते कपालानि चोपदधाति (=पीसने के लिए शिला पर व्रीहि को डालता है और कपालों को अग्नि पर रखता है), पुरोडाशं चाधिश्रयति आज्यं च (=पुरोडाश को पकाने के लिए तप्त कपालों पर रखता है और आज्य को पिघलाने के लिए अग्नि पर धरता है), स्तम्बयजुश्च हरति, अभि च गृह्णाति (चिकीर्षित वेदि स्थान से स्तम्ब यजु को हटाता है, उत्कर में प्रक्षिप्त सतृण पांसु=धूल आग्नीध्र अञ्जलि से ग्रहण करता है), वेदिं च परिगृह्णाति पत्नीं च सन्नह्यति (=वेदि को स्फ्य से रेखा द्वारा अङ्कित करता है, योक्त्र से पत्नी को बांधता है=पत्नी के कमर में योक्त्र बांधता है), प्रोक्षणीश्चासादयति आज्यं च (=स्फ्य से निष्पादित रेखा पर प्रोक्षणी को रखता है और स्फ्य से निष्पादित रेखा पर आज्य को धरता है)। एतानि द्वादश द्वन्द्वानि दर्शपूर्णमासयोः (=दर्शपूर्णमास में ये १२ द्वन्द्व=दो दो साथ-साथ किये जाने वाले कर्म हैं)। इन में सन्देह होता है—क्या ये अध्वर्यु के कर्म हैं अथवा यजमान के ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—भाष्य व्याख्यान में उद्धृत वचनों का जो भावार्थ लिखा है वह सायण के तै० सं० १।६।९ के भाष्य के अनुसार है। **स्तम्बयजुश्च** हरति—यहां स्तम्बयजुः शब्द का अर्थ आप० श्रौत २।१।४ की भाष्यवृत्ति में कौशिक राम ने 'स्फ्य से छिन्न तृण और पांसु=धूल=मिट्टी दोनों का वा एक का नामधेय' लिखा है। रुद्रदत्त ने स्वीय सूत्र दीपिका में 'तृण सहित पांसु' लिखा है। इस की क्रिया इस प्रकार होती है—निष्पाद्यमान वेदि में कुशा का तिनका रखकर उस पर स्फ्य से प्रहार किया जाता है। इस प्रहार से भूमि की जो मिट्टी उखड़ती है उस को उत्कर नामक स्थान में फेंकते हैं। यह क्रिया ३।४ बार की जाती है। तृण सहित स्फ्य से उद्धृत पांसु को उठाना 'स्तम्बयजुर्हरण' कहाता है। **अभि च गृह्णाति**—आप० श्रौत २।१।८ के अनुसार उत्कर में क्षिप्त सतृण पांसु को आग्नीध्र सीधी अञ्जलि से ग्रहण करता है।

विशेष—प्रकृत पाठ में वत्सविमोकादि १४ कर्म कहे हैं। इन के सात ही द्वन्द्व बनते हैं। अतः द्वादशत्व की उपपत्ति के लिये पूर्व अनुवाक में पठित दशयज्ञायुधों का समुच्चय किया जाता है। यह सायणाचार्य का कथन है (द्र० तै० सं भाष्य १।६।९)। भट्टभास्कर ने द्वन्द्वता सम्पादन अन्य प्रकार से कही है। वह लिखता है—**वत्सं च उपावसृजति** इन क्रिया विशेषों से द्वन्द्व सम्पादित किये जाते हैं। इस कारण द्वन्द्वों के बहुत होने पर भी द्वन्द्व संपादन १२ क्रियाओं से सापेक्ष होने से द्वादश संख्या जाननी चाहिये। अर्थात् क्रियाओं के द्वादश होने से तत्सम्पादित द्वन्द्वों को गौणीवृत्ति से १२ कहा है। वत्समुपावसृजति=वत्स को माता के समीप प्राप्त करता

१. तै० सं० १।६।९॥

याजमाने समाख्यानात् कर्माणि याजमानं स्युः ॥ १६ ॥ (पू०)

याजमानं समाख्यानात् कर्म्माणि याजमानं स्युः । विशेषसमाख्यानाद् याजमानानीति गम्यते । यथा पोत्रीयं नेष्ट्रीयमिति ॥१६॥

है। इस उपावसर्जन क्रिया से माता और वत्स का द्वन्द्व सम्पादित किया जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये (द्र० तै० सं० भाष्य १।६।६)। भट्टभास्कर का मत शाबरभाष्य के अनुकूल है। भाष्य के आरम्भ में **कर्मण्याम्नातानि द्वादश** से १२ कर्म=क्रिया ही कही हैं।

भट्टभास्कर के मतानुसार **वत्समुपावसृजति** से गाय बछड़े का द्वन्द्व, **उखां चाधिश्रयति** से अङ्गार और उखा का द्वन्द्व, **अव च हन्ति** से शम्या और दृषद् का द्वन्द्व, **अधि च वपते** से व्रीहि और दृषद् का द्वन्द्व, **कपालान्युपदधाति** से अङ्गार और कपालों का द्वन्द्व, **पुरोडाशं चाधिश्रयति** से पुरोडाश और कपालों का द्वन्द्व, **आज्यं चाधिश्रयति** से अङ्गार और आज्य का द्वन्द्व, **स्तम्बयजुर्हरति**—से तृण और पांसुओं का द्वन्द्व, **अभि च गृहणाति** से अञ्जलि और उत्करस्थ पांसुओं का द्वन्द्व, **वेदिं परिगृह्णाति** से वेदि की भूमि और स्फ्य का द्वन्द्व, **पत्नीं सन्नह्यति** से पत्नी और योक्त्र का द्वन्द्व, **प्रोक्षणीरासादयति** से प्रोक्षणी=जल और वेदि का द्वन्द्व, **आज्यं च**—से आज्य और वेदि का द्वन्द्व। इस प्रकार १४ द्वन्द्व होते हैं। परन्तु क्रिया की दृष्टि से १२ कहे गये हैं। कपाल और पुरोडाश का उपधान एक क्रिया है। प्रोक्षणी और आज्य का आसादन एक क्रिया है। इसलिये इन वचनों में उपावसृजति, अधिश्रयति, हन्ति, समाहन्ति, वपते, उपदधाति, अधिश्रयति, हरति, अभिगृह्णाति, परिगृह्णाति, संनह्यति, आसादयति इस प्रकार बारह क्रियाओं का निर्देश किया है। इसी दृष्टि से द्वन्द्व भी बारह कहे हैं।

याजमाने समाख्यानात् कर्माणि याजमानं स्युः ॥१६॥

सूत्रार्थः—(याजमाने) याजमानकाण्ड में पठित (समाख्यानात्) याजमान संज्ञा होने से (कर्माणि) उक्त द्वादश कर्म (याजमानम्) यजमान कर्तृक (स्युः) होवें।

विशेष—याजमाने—तैत्तिरीय संहिता १।६।६ में पूर्वपक्षीय भाष्य में उद्धृत बारह कर्म पढ़े हैं। तै० सं० के प्रथम काण्ड का छठा अनुवाक याजमान काण्ड कहाता है। सूत्र में **कर्माणि याजमानम्** निर्देश **वेदाः प्रमाणं** के समान जानना चाहिये। कुतुहलवृत्तिकार ने **कर्माणि याजमानानि** पाठ माना है।

व्याख्या—याजमान काण्ड में पठित कर्म याजमान संज्ञा से यजमान सम्बन्धी होवें। [याजमान इस] विशेष समाख्या से कर्म यजमान सम्बन्धी जाने जाते हैं। जैसे पोत्रीय नेष्ट्रीय संज्ञाविशेष से वे कर्म पोता और नेष्टा के द्वारा क्रियमाण होते हैं।

विवरण—याजमाने समाख्यानात् और **कर्माणि यजमानं स्युः** का विवरण **सूत्रार्थ के नीचे विशेष** शीर्षक में लिख चुके हैं। **यथा पोत्रीयं नेष्ट्रीयम्**—इस विषय में पूर्व **मी० ३।७।४१** के भाष्य व्याख्यान में लिख चुके हैं ॥१६॥

अध्वर्य्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥ २० ॥ (उ०)

अध्वर्युर्वा कुर्यादेतानि । तदर्थो हि अध्वर्युः परिक्रीत इति समाख्यानाद् अवगम्यते । आध्वर्यवे एव सर्वे इमे पदार्थाः समाम्नाताः । याजमाने एषां द्वन्द्वतोच्यते । द्वन्द्वता च समभ्यासक्रिया । तत्राध्वर्युः पदार्थान् करिष्यति, यजमानेनापि समभ्यासीकरणमित्येतदशक्यम् । तत्र अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्याद्[1] इति द्वन्द्वतागुणो बाधितव्यः । तस्मादाध्वर्यवा एते पदार्था इति ॥

यदुक्तं समाख्यानादिति । तत् परिहर्त्तव्यम् । उच्यते । न्यायपूर्वं समाख्यानं, समाख्यानाद् यजमानेन द्वन्द्वता सम्पादयितव्या । इदं चेदं च सम्पादय इति यजमानो ब्रूयात् । केषुचिच्चात्र पदार्थेषु यजमानस्यानुमन्त्रणम् । तन्निमित्ता समाख्या भविष्यति ।

अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'द्वादश कर्म यजमान सम्बन्धी हैं' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (अध्वर्युः) उक्त कर्मों को अध्वर्यु करे। (तदर्थो हि) इस प्रकार के कर्मों के लिये ही अध्वर्यु का वरण किया है। आध्वर्यव समाख्या वाले प्रकरण में ये पदार्थ पठित हैं। (न्यायपूर्वम्) न्यायानुकूल ही (समाख्यानम्) समाख्या पदार्थों को प्राप्त कराती है। जिन द्वादश कर्मों का निर्देश प्रकृत में किया गया है उन का विधान पहले आध्वर्यव काण्ड में किया जा चुका है। अतः उस विधान से अध्वर्युकर्तृकत्व की प्राप्ति होने से अध्वर्यु ही इन पदार्थों को करे। याजमान काण्ड में तो द्वन्द्वता सम्पादन मात्र कहा है। इस से यजमान द्वारा द्वन्द्वता सम्पादन के लिये निर्देश देना मात्र यहां विवक्षित है।

व्याख्या—इन कर्मों को अध्वर्यु ही करे। इन्हीं के लिये अध्वर्यु परिक्रीत है ऐसा [आध्वर्यव] समाख्या से जाना जाता है। आध्वर्यव काण्ड में ही ये सब पदार्थ पठित हैं। याजमान काण्ड में इन पदार्थों की द्वन्द्वता कही जाती है। और द्वन्द्वता अभ्यास क्रिया है। उस अवस्था में अध्वर्यु पदार्थों को करेगा और यजमान से भी समभ्यास क्रिया करना (=द्वन्द्वतानिष्पादन करना) यह अशक्य है। वहां अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात् (=अङ्ग के गुण का प्रधान के साथ विरोध होने से अङ्ग के प्रधान के लिये होने से) इस नियम (मी० १२।२।२६) से द्वन्द्वता गुण बाधित होना चाहिये। इस कारण ये पदार्थ अध्वर्यु सम्बन्धी हैं।

(आक्षेप) और जो यह कहा है कि समाख्यान से ये कर्म याजमान प्राप्त होते हैं। उस का परिहार करना चाहिये। (समाधान) समाख्यान न्याय पूर्व होता है। समाख्यान से यजमान के द्वारा द्वन्द्वता का सम्पादन होना चाहिये। यह और यह सम्पादित करो ऐसा यजमान कहे। किन्हीं पदार्थों में यजमान का अनुमन्त्रण है। उस के कारण समाख्या हो जाएगी। अपूर्व तो अपकृष्ट होवे। और जो यह कहा है—पोत्रीय नेष्ट्रीय समाख्या से उक्त कर्म पोता नेष्टा

---

1. मी० १२।२।२५॥

अपूर्वं त्वपकृष्येत । यदुक्तं, यथा पोत्रीयं, नेष्ट्रीयमिति, एवमत्रापीति । तदुच्यते । युक्तं तत्र विशेषसमाख्यानात् । इह तु द्वन्द्वता याजमानीया, पदार्थास्तु आध्वर्यवा एव। तस्माद् अदोषः ॥२०॥ द्वादशद्वन्द्वानाम् आध्वर्यवत्वाधिकरणम् ॥९॥

[होतुराध्वर्यवकरणमन्त्रानुष्ठातृत्वाधिकरणम् ॥१०॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्निषोमीयः । तस्य यूपस्य परिव्याणे मन्त्रौ । एकः—अध्वर्योः परिवीरसि[1] इति करणः । अपरो—होतुर्युवा सुवासा[2] इति क्रियमाणानुवादी । तयोश्चोदकपरम्परया कुण्डपायिनामयनं प्राप्तयोर्भवति सन्देहः—कः पुनरसौ । तत्र ऋत्विक्समास आम्नातः—यो होता सोऽध्वर्युः[3] इति । किं करणमाध्वर्यवं होता कुर्यात्? किं हौत्रं क्रियमाणानुवादिनमिति । किं प्राप्तम् ? अनियम इति प्राप्ते, उच्यते—

ही करता है। इसी प्रकार याजमान समाख्या यजमान ही करेगा। इस विषय में कहते हैं—वहां [पोत्रीया नेष्ट्रीया समाख्या से पोता नेष्टा कर्म करें, यह] युक्त है विशेष समाख्या होने से। यहां तो द्वन्द्वता याजमानीय है, पदार्थ आध्वर्यव ही हैं। इस कारण दोष नहीं है।

विवरण - समभ्यासक्रिया—सम्+अभि+आस (उपवेशने) अर्थात् समासन्नकरण=समीप में करना। केषुचिद्त्वात्र पदार्थेषु यजमानस्यानुमन्त्रणम्—यह हमें उपलब्ध नहीं हुआ ॥२०॥

—:o:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु है। उस पशु के यूप के परिव्याण (=यूप की रस्सी से यूप को लपेटना) में दो मन्त्र हैं एक अध्वर्यु का करण मन्त्र है—परिवीरसि, दूसरा होता का क्रियमाणानुवादी मन्त्र है—युवासुवासा। इन दोनों मन्त्रों के चोदक (=अतिदेश) परम्परा से 'कुण्डपायिनामयन' के प्रति प्राप्त होने पर सन्देह होता है—कि वह कौन इन कर्मों का करने वाला होता है। वहां (=कुण्डपायिनामयन में) ऋत्विजों का समास (=संक्षेप दो ऋत्विजों के स्थान में एक ऋत्विक्) कहा है—यो होता सोऽध्वर्युः (=जो होता है वह अध्वर्यु है)। [उस अवस्था में] क्या आध्वर्यव करण मन्त्र [परिवीरसि] को होता बोले, वा क्या हौत्र क्रियमाण अनुवादी [युवासुवासा] मन्त्र को ? क्या प्राप्त होता है ? अनियम प्राप्त होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—यूपस्य परिव्याणे—यूप के परिव्ययण (=लपेटने के लिये जो रशना=रस्सी, उस तीन लड़ोंवाली (तीहरी) करके मध्यम गुण (भाग) से यजमान की नाभि के बराबर ऊंचे भाग में यूप को प्रदक्षिणावृत्ति से लपेटना परिव्ययण कर्म कहाता है। परिवीरसीति करणः= 'क्रियते कर्मानेनेति करणः'=जिस मन्त्र को बोलकर कर्म किया जाता है वह मन्त्र करणमन्त्र

---

1. वाज० ६।६॥ 2. ऋ० ३।८।४॥
3. ता० ब्रा० २५।४।५॥

विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात् ॥२१॥ (उ०)

विप्रतिषेधे करणः स्याद् आध्वर्यवः परिवीरसि इति। न क्रियमाणानुवादी, होतुर्युवा सुवासा इति। कुतः ? समवायविशेषात्। द्वौ तत्र समवायौ होतुश्चोदकेन

कहाता है। यूप के परिव्ययण का मन्त्र है—**परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानं रायो मनुष्याणाम्** (शुक्ल यजु० ६।६)=हे यूप तुम परिवीः हमारे द्वारा चारों ओर से रशना से लपेटे हुए हो, तुम्हें चारों ओर से दैवी विशः=पशु घेरें। और इस यजमान को मनुष्य सम्बन्धी धन संपत्तियां लपेटें। यह मन्त्र का याज्ञिक शब्दार्थ है। **क्रियमाणानुवादी [मन्त्रः]**—जो कर्म किया जा रहा है उस कर्म का अनुवाद करनेवाला मन्त्र। इसे अनुमन्त्रण मन्त्र भी कहते हैं। इस परिव्ययण कर्म में क्रियमाणानुवादी मन्त्र है—**युवा सुवासा परिवीत आगात्** (३।८।४)=यह युवा सुन्दर वस्त्र से लिपटा हुआ प्राप्त हुआ है। यह इसका शब्दार्थ है। यहां सुन्दर वस्त्र को कमर में लपेटे हुए युवा से रशना से परिवीत यूप को उपमा दी है। यह मन्त्र **परिवीयमाणायानुब्रूहि** (=परिव्याण किये जा रहे यूप के लिये पढ़ो) ऐसा प्रैषप्राप्त होने पर यूप के समीप अध्वर्यु परिव्ययण मन्त्र 'परिवीरसि' पढ़ता है और उत्तर वेदि के अपर भाग में उपविष्ट होता युवा सुवासा मन्त्र को पढ़ता है। दोनों मन्त्रों का सहपाठ करते हैं। **चोदकपरम्परया कुण्डपायिनामयने प्राप्तयोः**—'कुण्डपायिनाम् अयन' यह संज्ञा है। इसमें सोम का पान चमस के स्थान में कुण्डों से किया जाता है। अग्निष्टोम में जो अग्नीषोमीय पशु है उसके धर्म उक्थ्यादि संस्थाओं की परम्परा से कुण्डपायिनामयन में प्राप्त होते हैं ॥२०॥

विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषाद् इतरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात्॥२१॥

सूत्रार्थः—(विप्रतिषेधे) करण मन्त्र और अनुमन्त्रण मन्त्र का एक काल प्रयोग में विरोध होने पर (करणः) करण आध्वर्यव मन्त्र होवे। (समवायविशेषात्) होता और अध्वर्यु के समवाय में **यो होता सोऽध्वर्युः** विशेष वचन से होता को आध्वर्यव कार्य में नियुक्त किया है। इस कारण वह आध्वर्यव करणमन्त्र का प्रयोग करे। (इतरम्) अन्य क्रियमाणानुवादी **युवा सुवासा** मन्त्र को हौत्र पुरुषों में से (अन्यः) अन्य पढ़े। अथवा (तेषाम्) उन होतृपुरुषों में (यतो विशेषः स्यात्) जिससे विशेष होवे। अर्थात् होता के पश्चात् **अर्धी, पादी** के कार्यान्तर में व्यापृत होने पर तृतीयी ऋत्विक् **युवा सुवासा** मन्त्र का पाठ करे। (अर्धी तृतीयी पादी संज्ञाओं के लिये पृष्ठ १०६८ देखें)।

व्याख्या—[एक काल में दो मन्त्रों के पाठ में] **विरोध होने पर आध्वर्यव करण मन्त्र प्रयुक्त होवे**—परिवीरसि। **क्रियमाणानुवादी प्रयुक्त न होवे जो होता का युवा सुवासा मन्त्र है। किस हेतु से ? समवाय विशेष से। वहां दो समवेत होते हैं। होता का** [**मन्त्र चोदक वचन से**

हौत्रेषु, प्रत्यक्षश्रवणेन आध्वर्यवेषु, यो होता सोऽध्वर्युरिति । एवं प्रत्यक्षमध्वर्योः कार्यं चोद्यते । प्रत्यक्षं चानुमानाद् बलीयः । तस्माद् आध्वर्यवं करणं परिवीरसीति होता कुर्यात् । अथ हौत्रं विरुद्धं कः कुर्यात् । इतरमन्यः तेषां यतो विशेषः स्यात् । अन्यो होतृपुरुष एव स्यात् । यस्याव्यापृतता, प्राधान्यविशेषो वा ॥२१॥ **होतुराध्वर्यवकरण-मन्त्रानुष्ठातृत्वाधिकरणम् ॥१०॥**

[प्रैषप्रैषार्थयोः पृथक्कर्तृकत्वाधिकरणम् ॥११॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र प्रैषः समाम्नातः—**प्रोक्षणीरासादय, इध्माबर्हिरुपसादय,**

और हौत्र पुरुषों में प्रत्यक्ष श्रवण से आध्वर्यव में होवे—यो होता स अध्वर्युः। **इस प्रकार प्रत्यक्ष अध्वर्यु के कार्य में होता चोदित** (=प्रेरित) होता है । **प्रत्यक्ष अनुमान से बलवान् है । इसलिये आध्वर्यव करणमन्त्र** परिवीरसि का **पाठ होता करे । अच्छा तो हौत्र (=होतृ-सम्बन्धी) विरुद्ध होने वाले** [युवा सुवासा मन्त्र का पाठ] **कौन करे ? जो उनमें अन्य किसी कारण से विशेष होवे** [वह हौत्र मन्त्र युवा सुवासा का पाठ करे]। **अन्य होतृपुरुष ही होवे । जिसकी कर्मान्तर में व्यापृतता न होवे अर्थात् खाली होवे अथवा विशेष प्रधानता होवे ।**

विवरण　अथ हौत्रं विरुद्धं कः कुर्यात्—इत्यादि भाष्य जो **इतरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात्** सूत्रावयव का है, उसकी व्याख्या भट्ट कुमारिल ने नहीं की है । उनकी उस उपेक्षा का कारण यह है कि कुण्डपायिनामयन में होतृपुरुष मैत्रावरुण अच्छावाक और ग्रावस्तुत् नामक तीनों के वचन-सामर्थ्य से कार्यान्तर में व्यापृत होने से उस प्रकार का अव्यापृत प्रकृत उदाहरण के अनुरूप होतृपुरुष नहीं है (द्र० मी० भाष्य पूना सं० पृष्ठ ११२७, टि० १ के उत्तरार्ध का अनुवाद) । **अन्यो होतृपुरुष एव स्यात् यस्याव्यावृत्तताप्राधान्यविशेषो वा** इसका आशय टिप्पणीकार ने इस प्रकार दर्शाया है—अध्वर्युसम्बन्धी करण मन्त्र के होता के पाठ करने पर उससे विरुद्ध क्रियमाणानुवादी मन्त्र का कौन प्रयोग करे, इस आशंका में होतृपुरुषों में जो कोई अन्तरङ्ग अर्धी आदि हो अथवा उसके कार्यान्तर में व्यापृत होने पर उससे बहिरङ्ग तृतीयी आदि प्रयोग करें (द्र० वही, टि० १ पूर्वभाग का भाषानुवाद) । अर्धी तृतीयी और पादी शब्दों के विषय में मी० ३ पा० ७, सूत्र २२ के भाष्य व्याख्या के अन्त में पृष्ठ १०६८ का विवरण देखें ।

व्याख्या—दर्शपूर्णमास हैं । वहां प्रैष (=आज्ञावचन) पठित हैं—प्रोक्षणीरासादय (=

स्रुवं च स्रुचश्च सम्मृड्ढि,पत्नीं सन्नह्य आज्येनोदेहि' इति । तत्र सन्देहः किं य एव प्रैषे स एव प्रैषार्थे ? उतान्यश्च प्रैषेऽन्यश्च प्रैषार्थे इति । किं प्राप्तम् ?एक एव प्रैषप्रैषार्थयोरिति । कुतः ? समाख्यानात् । अन्य इति चाश्रुतत्वात् । नन्वात्मनः प्रैषो विप्रतिषिद्धयते ?उच्यते । न प्रैषो भविष्यति । प्राप्तकाले लोटं वक्ष्यामः । आह । प्राप्तकालेऽपि सति युष्मदादिष्वेवोपपदेषु मध्यमादयो व्यवस्थिताः । न पुरुषसङ्करो भवति । उच्यते । सत्यां विवक्षायां युष्मदादिषु मध्यमादयः । यदा तव प्राप्तः काल इति विवक्ष्यते, तदा युष्मद्येव मध्यमो नास्मदि शेषे वा । यदा खलु क्रियायाः प्राप्त काल इत्येतावद् विवक्ष्यते,न तव मम वेति,न तदा युष्मदादीनामनुरोधेन मध्यमादयो भवितुमर्हन्ति । न चेदं युगपद् विवक्षितुं शक्यते । पदार्थस्य प्राप्तकालः, तव चेति । भिद्येत हि तथा वाक्यम् । तेन यदि वा निर्ज्ञाते पदार्थकाले तव काल इति शक्यते वदितुं यदि वा तवेति निर्ज्ञाते पदार्थस्य काल इति । तत्र पदार्थस्य कालो वदितव्यो,न तु

प्रोक्षणी संज्ञक जलों को रखो), इध्माबर्हिरुपसादय (=इध्म और बर्हि को रखो), स्रुवं स्रुचश्च संमृड्ढि (=स्रुव और स्रुचों को साफ करो), पत्नीं सन्नह्य आज्येनोदेहि (पत्नी को योक्त्र बांधकर आज्य के साथ आओ) । इनमें सन्देह होता है—क्या जो व्यक्ति प्रैष देता है वही प्रैष के अर्थ (=आज्ञा दिए गये कर्म) को करता है अथवा प्रैष देने में अन्य और प्रैष के अर्थ में अन्य होता है [अर्थात् प्रैष देने वाला और जिसको प्रैष देता है वह भिन्न भिन्न व्यक्ति होते हैं, अथवा एक ही होता है] । क्या प्राप्त होता है? प्रैष और प्रैष के अर्थ में एक ही व्यक्ति होता है । किस हेतु से ? [आध्वर्यव समाख्या से]और अन्य व्यक्ति के न सुने जाने से ।(आक्षेप) अपने लिए प्रैष देना विरुद्ध होता है [अर्थात् अपने आपको प्रैष नहीं दिया जा सकता] । (समाधान) [आसादय आदि] प्रैष नहीं होगा, प्राप्त काल अर्थ में लोट् कहेंगे । (आक्षेप) प्राप्त काल अर्थ होने पर भी युष्मदादि उपपद होने पर ही मध्यम पुरुष आदि व्यवस्थित हैं । [मध्यमादि] पुरुषों का संकर नहीं होता है । (समाधान)विवक्षा होने पर युष्मदादि उपपदों के होने पर मध्यमादि होते हैं । जब [प्रोक्षणीः आसादय में] तुम्हारा काल प्राप्त=उपस्थित हुआ है,ऐसी विवक्षा की जाती है, तब युष्मद् उपपद होने पर ही मध्यम पुरुष होता है, अस्मद् अथवा शेष उपपद होने पर नहीं होता है । जब 'क्रिया का काल प्राप्त है' इतना विवक्षित होता है, तेरा वा मेरा पद विवक्षित नहीं होता है, तब युष्मदादि के अनुरोध से मध्यमादि नहीं होने चाहियें । और ये दोनों एक साथ विवक्षित नहीं हो सकते—'पदार्थ का काल प्राप्त हुआ है और तुम्हारा' । ऐसी विवक्षा करने पर वाक्य भेद होता है। इस कारण, यदि पदार्थ का काल निर्ज्ञात होवे तो 'तुम्हारा काल प्राप्त है' ऐसा कह सकते हैं,अथवा 'तुम्हारा' [यह सम्बन्ध] निर्ज्ञात होने पर 'पदार्थ का काल प्राप्त है' ऐसा कह सकते हैं । ऐसी अवस्था में पदार्थ का काल कहना चाहिये, युष्मदर्थ का कथन नहीं कहना चाहिये । उस

---

१. तै० ब्रा० ३।२।६।१४।।

युष्मदर्थस्य । तेन हि स्मृतेन प्रयोजनम् । स हि कर्त्तव्य इत्यवगतो, न तु युष्मदर्थस्तथा। तस्मात् समाख्यानादध्वर्योरेव प्रैषप्रैषार्थौ इति । इति प्राप्ते ब्रूमः—

प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥२२॥ (उ०)

प्रैषेष्वन्येऽन्यस्तदर्थेष्विति। कुतः? पराधिकारात् । परस्मिन् हि प्रैष उपपद्यते नात्मनीति । आह । ननूक्तं प्राप्तकाले भविष्यतीति । उच्यते । न सम्भवति प्रैषे, प्राप्तकालता न्याय्या। तस्या हि युष्मदर्थो गम्यमानो न विवक्षित इत्युच्यते,सम्भवति चात्र प्रैषार्थः । तस्मात् प्रैषः । प्रैषश्चेद्, अन्यः प्रैषार्थ इति सिद्धम् ॥२२॥

प्रैषप्रैषार्थयोः पृथक्कर्तृकत्वाधिकरणम् ॥११॥

(=पदार्थ काल) के स्मरण करने से प्रयोजन है, क्योंकि वह (=पदार्थ) ही कर्त्तव्य रूप से अवगत है, युष्मद् का अर्थ उस प्रकार कर्त्तव्य नहीं है । इस कारण समाख्या से अध्वर्यु के ही प्रैष और प्रैषार्थ हैं । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं —

प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(प्रैषेषु) प्रैषों 'आसादय' आदि में (च) भी (पराधिकारात्) पर =अन्य का अधिकार होने से अर्थात् प्रैष अन्य को ही दिया जाता है इससे प्रैष और प्रैषार्थ पृथक् कर्त्तृक हैं ।

व्याख्या—प्रैष कार्य में अन्य होता है, ओर प्रैषार्थ कार्य में अन्य । किस हेतु से? प्रैष (=प्रेरित करने) पर (अन्य) में अधिकार होने से । अन्य के प्रति ही प्रैष उपपन्न होता है, अपने प्रति प्रैष उपपन्न नहीं होता । (आक्षेप) हमने कहा था—प्राप्त काल अर्थ में प्रैष (='आसादय' आदि)उपपन्न हो जायेगा ।(समाधान)प्रैष के सम्भव होने पर प्राप्त कालता न्याय्य नहीं है । उसका प्रतीत होने वाला युष्मद् (तव) का अर्थ विवक्षित नहीं है यह कहते हो । यहां (=आसादय आदि में) प्रैषार्थ सम्भव है । इसलिये प्रैष है । यदि प्रैष है तो प्रैषार्थ अन्य है, यह सिद्ध है ।

विवरण—**युष्मदर्थो गम्यमानो न विवक्षितः**—'आसादय' आदि लोट् को प्राप्त काल में मानने पर **तव प्राप्त कालः** = तुम्हारा रखने का समय उपस्थित हुआ है, इसमें 'तव' का अर्थ विधान करने योग्य नहीं है, आसादन करने योग्य होने से वही विधान करने योग्य है, ऐसा पूर्व कह चुके हैं । इस अवस्था में 'तव'=युष्मद् रूप अर्थ गम्यमान होता हुआ विवक्षित नहीं है, यह मानना होगा । प्रैष में मध्यम पुरुष से गम्यमान युष्मद् का अर्थ उपपन्न होता है ॥२२॥

[प्रैषप्रैषार्थयोर्यथाक्रममाध्वर्यवाग्नीध्राताधिकरणम् ।।१२।।]

अथैवं गते इदं सन्दिह्यते – किमध्वर्युरग्नीधं प्रैष्येद्, उताग्नीदध्वर्युमिति ? अनियमोऽविशेषादिति प्राप्ते ब्रूमः—

अध्वर्युस्तु दर्शनात् ।।२३।। (पू०)

अध्वर्युरुक्तप्रैषार्थकारी स्यात् । कुतः ? दर्शनात् । दर्शनं भवति—**तिर्यञ्चं स्फ्यं धारयेत् यदन्वञ्चं धारयेत् वज्रो वै स्फ्यो वज्रेणाध्वर्युं क्षिण्वीत**[1] इति । यः प्रैष्यति तस्य हस्ते स्फ्यः । स्फ्येनाध्वर्युं क्षिण्वीतेत्यन्यमध्वर्युं प्रैषकाद् दर्शयति । तस्मादग्नीदध्वर्युं प्रैष्येदिति ।।२३।।

गौणो वा कर्मसामान्यात् ।।२४।। उ०)

व्याख्या = इस प्रकार (= प्रैष कार्य में अन्य और प्रैषार्थ में अन्य) अवगत (= ज्ञात) होने पर सन्देह होता है – क्या अध्वर्यु अग्नीत् को प्रैष देवे अथवा अग्नीत् अध्वर्यु को । विशेष नियम न होने से अनियम प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण – **किमध्वर्युरग्नीधं प्रैष्येत्** – प्रैष का विधान आध्वर्यव (यजुर्वेद) में है । आध्वर्यव वेद में विहित कार्यों को करने वाले अध्वर्यु और अग्नीत् दो ऋत्विक् हैं । अतः सन्देह होता है कि प्रैष देने वाला कौन होवे और प्रैषार्थकारी कौन होवे ?

अध्वर्युस्तु दर्शनात् ।।२३।।

सूत्रार्थः – (अध्वर्युः) अध्वर्यु (तु) ही प्रैषार्थ का करने वाला होवे, (दर्शनात्) प्रैषार्थ कार्य में अध्वर्यु का दर्शन होने से ।

व्याख्या—अध्वर्यु उक्त प्रैषार्थ का करने वाला होवे । किस हेतु से ? देखे जाने से । देखा जाता है—तिर्यञ्चं स्फ्यं धारयेत् यदन्वञ्चं धारयेत् वज्रो वै स्फ्यो वज्रेणाध्वर्युं क्षिण्वीत (= स्फ्य को तिरछा धारण करे यदि सामने धारण करे तो स्फ्य वज्र है, वज्र से अध्वर्यु को हिंसित करे)। जो प्रैष देता है उसके हाथ में स्फ्य होता है । स्फ्य से अध्वर्यु को हिंसित करे । यह अन्य को प्रेषक (= प्रैष देनेवाले) से दर्शाता है अर्थात् अध्वर्यु प्रैषार्थकारी है और प्रैष देने वाला अध्वर्यु से अन्य है ।।२३।।

गौणो वा कर्मसामान्यात् ।।२४।।

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है अर्थात् अग्नीत् का प्रैष और अध्वर्यु का प्रैषार्थ नहीं है । (कर्मसामान्यात्) कर्म की समानता = आध्वर्यव वेद प्रतिपादित कर्मों के कर्त्ता होने से (गौणः) अग्नीत् का अध्वर्युत्व गौण है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । अत्र तै० ब्रा० ३।२।१०।१ द्रष्टव्यम् ।

नैतदस्ति, अग्नीधः प्रैषोऽध्वर्योः प्रैषार्थ इति । किं खलु अध्वर्युरेवाग्नीधं प्रैष्येत् । एवमध्वर्युणा प्रैषः प्रैषार्थश्चोभावपि कृतौ भविष्यतः । तत्र आध्वर्यवमिति समाख्याऽनुग्रहीष्यते । तस्मादध्वर्युरेव मुख्यः स्यात् । किमस्य मुख्यत्वम् ?यदनेन सर्वं कर्त्तव्यं समाख्यानादिति । अथ यदुक्तमध्वर्युः प्रचरिता दृश्यत इति ?तदुच्यते । सत्यं दृश्यते । न त्वस्य प्रैषार्थकरणे प्रमाणमस्ति चिन्त्यमानम् । तस्मादेतन्मिथ्यादर्शनम् । यस्य हि दर्शनस्य प्रमाणं नास्ति, व्यामोहः सः । तथा शुक्तिकायां रजतविज्ञानम् । अस्ति तु अग्नीधः प्रैषार्थकरणे प्रमाणम्—**तस्माद् आग्नीध्रः प्रचरिता**[1] । प्रचरितरि चाऽध्वर्युशब्दो दृश्यते । तस्मात् गौणः, आध्वर्यवे वेदे समाम्नातान् पदार्थान् करोतीति कृत्वाऽध्वर्युरित्युच्यते, आग्नीध्र इति । तस्माद् आध्वर्यवः प्रैषः,आग्नीध्रः प्रैषार्थ इति ।।२४।। **प्रैषप्रैषार्थयोर्यथाक्रममाध्वर्यवाग्नीध्रताधिकरणम् ।।१२।।**

व्याख्या—यह नहीं है—अग्नीत् का प्रैष कर्म है और अध्वर्यु का प्रैषार्थ कर्म । किन्तु अध्वर्यु ही अग्नीत् को प्रैष देवे । इस प्रकार अध्वर्यु का प्रैष और प्रैषार्थ दोनों ही कृत सम्भव होते हैं । इस प्रकार आध्वर्यव यह नाम अनुगृहीत होगा । इस प्रकार अध्वर्यु ही मुख्य होगा । इस (=अध्वर्यु) का मुख्यत्व क्या है ? समाख्या के कारण जो इससे सब कर्म किये जाने योग्य हैं । और जो यह कहा है कि अध्वर्यु प्रचरिता (=कर्म करने वाला) देखा जाता है, वह अयुक्त है । यह सत्य है कि अध्वर्यु प्रचरिता देखा जाता है । (=पूर्वोक्त वचन से जाना जाता है) । परन्तु इस (=अध्वर्यु) का प्रैषार्थ के करने में विचारणीय प्रमाण नहीं है । इस कारण यह (=अध्वर्यु का प्रैषार्थत्व) मिथ्या दर्शन (=ज्ञान) है । जिस ज्ञान का प्रमाण नहीं होता है वह व्यामोह (=अज्ञान) होता है । जैसे सीप में चांदी की प्रतीति । अग्नीत् के प्रैषार्थ के करने में प्रमाण है—तस्माद् आग्नीध्रः प्रचरिता (इसलिये आग्नीध्र = अग्नीत् कर्म करने वाला है) । प्रचरिता (=कर्म करने वाले में) जो अध्वर्यु शब्द देखा जाता है, इसलिए वह गौण है । आध्वर्यव वेद में पठित पदार्थों को करता है, इस कारण वह अध्वर्यु कहा जाता है । इससे आग्नीध्र (=अग्नीत्) अध्वर्यु है । इस हेतु से अध्वर्यु का प्रैष कर्म है और आग्नीध्र का प्रैषार्थ ।

विवरण—आग्नीध्र पद की सिद्धि इस प्रकार जाननी चाहिये—**अग्नीधः शरणे रण् भं च** (अष्टा० ४।३।१२० वा०) इस वार्तिक से अग्नीध् शब्द से शरण (=स्थान) अर्थ में रण् प्रत्यय और भ संज्ञा होती है । भ संज्ञा होने से धकार को दकार नहीं होता है प्रत्यय के णित् होने से आदि अकार को वृद्धि (=आ) हो जाती है—आग्नीध्र । उक्त वार्तिक के अनुसार अग्नीत् का जो स्थान है वह आग्नीध्र कहाता है । सोम याग में सदोमण्डप (=जिस मण्डप में ऋत्विक् विशेष बैठते हैं) और हविर्धान मण्डप (जिस मण्डप में सोमरूप हवि के धारण

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

[**करणमन्त्रेषु स्वामिफलस्याशासितव्यताधिकरणम्** ।२३।]

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु इति पूर्वमग्निं गृह्णाति[1] इति । **तत्र सन्देहः, किम् ऋत्विक्फलमाशासितव्यम्, अग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु इति ? उत यजमानस्येति । किं प्राप्तम्** --

करनेवाले शकट (गाड़ी) रखे जाते हैं) उन दोनों के उत्तर दिशा में आग्नीध्र नाम का स्थान होता है । यह आधा सोमयाग की वेदी के भीतर आधा बाहर रहता है । इस आग्नीध्र स्थान में बैठने वाला तात्स्थ्य (उसमें ठहरने वाला) उपाधि से मञ्चाः क्रोशन्ति (=मचान पर बैठे पुरुष पुकारते हैं,) के समान अग्नीत् भी आग्नीध्र कहा जाता है और आग्नीध्र स्थान में विद्यमान अग्नि भी आग्नीध्र कहाती है । विशेष काशिका वृत्ति ४।३।१२० की पदमञ्जरी संज्ञक व्याख्या में देखें ॥२४॥

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में पढ़ते हैं**—ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु इति पूर्वमग्निं गृह्णाति (= **हे अग्ने तुम्हारे अनुग्रह से यज्ञों में मेरा वर्च होवे = मैं वर्चस्वी होऊं । इस मन्त्र से पूर्व दिन अग्नि का ग्रहण** समिन्धन करे) **। इसमें सन्देह होता है— क्या ऋत्विक् के फल की आशसा (= चाहना) करनी** चाहिये—अग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु (= **हे अग्ने यज्ञों में मुझ अध्वर्यु का वर्च होवे = मैं वर्चस्वी** होऊं) **अथवा यजमान के फल की आशंसा करनी** चाहिये **। क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु— यह मन्त्र दर्शपूर्णमास कर्म में प्रथम दिन के कृत्य आहवनीय **अग्नि के समिन्धन** में विनियुक्त है । इससे आहवनीय में तीन समिधाओं में से प्रथम समिधा धरी जाती है । **विहव** शब्द का यौगिकार्थ है—**विशेषेणाह्वयन्ते स्पर्धन्तेऽत्र** = जहां विशेष रूप से स्पर्धा होती है । इस प्रकार विहव शब्द संग्राम का वाचक होता है । **विशेषेण देवताऽऽह्-यन्तेऽत्र** = जहां विशेष रूप से देवताओं को बुलाया जाता है । इस प्रकार यह यज्ञवाचक है,ऐसा सायण का कथन है (ऋग्भाष्य १०।१२८।१)। मन्त्र का आहवनीयाग्नि के समिन्धन में विनि-योग होने से यहां विहव शब्द यज्ञ का वाचक है, यह स्पष्ट है। **पूर्वमग्निं गृह्णाति**—यह वचन मैत्रायणी संहिता १।४।५ का है । वहां प्रश्न है—**किसके यज्ञ में** देवता आते हैं ? उत्तर है — जो प्रथम दिन अग्नि का ग्रहण करता है और श्वोभूत = अगले दिन देवताओं के प्रति यजन करता है । इससे **पूर्वमग्निं गृह्णाति** वचन में 'पूर्व' शब्द से पूर्व दिन अर्थ का ग्रहण = जानना चाहिये । कुतुहलवृत्तिकार ने **पूर्वमग्निम्** का अर्थ प्रथम आहवनीय अग्नि का ग्रहण = समिन्धन किया है । यह मूल वचन के विपरीत है । क्योंकि मै० सं० में कहा है **पूर्वमग्निं गृह्णाति देवता वा एतत् पूर्वेद्यु रगृहीत्**—पूर्व दिन अग्नि का ग्रहण करता है,से यजमान ने पूर्व दिन में देवताओं को

१. मै० सं० १।४।५॥

ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ।।२५। (पू)

अध्वर्योरेवेति । कुतः ? **एवं** श्रुतिरादृता भविष्यति । इतरथा लक्षणा स्यात्, आत्मना यजमानं लक्षयेत् । **तस्माद्** ऋत्विक्फलमशासितव्यमिति । कोऽर्थः ? अनया समिधा धार्यमाणेऽग्नौ **यागः** सम्भविष्यति । तत्र विहवेषु स्पर्द्धास्थानेषु अहं वर्चस्वी भविष्यामीत्यध्वर्योर्वचनम् । एवमुत्साही भविष्यतीति ।।२५।।

ग्रहण किया । हमारा विचार है प्रथम दिन गार्हपत्य से आहवनीय[1] अग्नि का ग्रहण यहां अभिप्रेत है । इसमें 'गृह्णाति' का समिन्धन करना लाक्षणिक अर्थ नहीं करना पड़ता है । इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि का समिन्धन मै० सं० १।४।१ में पठित समिन्धन मन्त्रों के क्रम से ही प्राप्त है, अथवा श्रौतसूत्रों से बोधित है ।

ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ।।२५।।

सूत्रार्थः—(करणेषु) **करण** मन्त्रों (ऋत्विक्फलम्) ऋत्विक् के फल की आशंसा है। (अर्थवत्त्वात्) ऋत्विक् के फल की कामना में अग्नि समिन्धन करनेवाले अध्वर्यु में मन्त्रगत 'मम' शब्द के अर्थवान् होने से ।

व्याख्या—अध्वर्यु का **फल** ही आशंसनीय है । किस हेतु से ? **इस प्रकार श्रुति** (= **'मम' शब्द का श्रवण**) **आदृत होगी** । **अन्यथा लक्षणा** होवे,**अपने से यजमान को लक्षित करे । इसलिये ऋत्विक् के फल की आशंसा करनी चाहिये** । इस वचन का अर्थ क्या होगा ? **इस समिधा से धार्यमाण** (= **धारण की हुई**) **अग्नि में याग सम्भव होगा । वहां विहव = स्पर्धा के स्थानों में मैं वर्चस्वी होऊंगा, यह अध्वर्यु का वचन (= कथन) है । इस प्रकार** [अध्वर्यु **कर्म करने में**] उत्साह वाला होगा ।

विवरण—इतरथा लक्षणा स्यात्—यदि मन्त्रगत 'मम' शब्द अध्वर्यु को न कहे तो 'मम' का अर्थ होगा—**मम यजमानस्य** = मेरे यजमान का वर्च होवे । **आत्मना यजमानं लक्षयेत्**—आत्मवाची 'मम' शब्द से यजमान को लक्षित करे । **स्पर्धास्थलेषु**—हम पूर्व 'विहव' शब्द की व्याख्या में इसका व्याख्यान कर चुके हैं । स्पर्धा स्थल से संग्राम अभिप्रेत है । परन्तु प्रसङ्ग यज्ञ का है, अतः स्पर्धा स्थल से यहां यज्ञ विवक्षित है । यज्ञ में स्पर्धा दो प्रकार से हो सकती है—

---

१. गार्हपत्य आहवनीय दक्षिणाग्नि में गार्हपत्य मुख्य है । प्रति कर्म के आरम्भ में गार्हपत्याग्नि से एक दो अंगारे लेकर आहवनीय अग्नि में धरे जाते हैं । यद्यपि आहवनीय अग्नि भी विद्यमान रहता है, तथापि उसके विषय में नियम है—**अपवृक्ते कर्माणि लौकिकः सम्पद्यते** = कर्म पूर्ण हो जाने पर वैदिक आहवनीयाग्नि लौकिक हो जाती है । अतः प्रतिकर्म गार्हपत्य से अग्नि का **उद्धरण** (उठाना) किया जाता है ।

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ २६ ॥ (उ०)

यजमानस्य वा वचनं, तदर्थत्वात् कर्म्मणः । यजमानार्थं हीदं कर्म्म साङ्गम् । उपग्रहविशेषात्, साङ्गस्यास्य प्रयोजनं यजमानस्य फलनिष्पत्तिर्नाध्वर्योः, सुप्रचरितुरपि यशः । किमतो यद्येवम् ? फलसङ्कीर्तनात् फलकर्त्तव्यता गम्यते । तदेतदग्न्यन्वाधानं यजमानस्य फलसङ्कीर्तने क्रियमाणेऽनेन मन्त्रेण फलसम्बन्धात् प्रकाशितं कृतं भवति, नाऽध्वर्यु यशःकीर्तनेन । तस्माद् यजमानफलमाशासितव्यमिति । अथ कस्मान्न याजमान

इस यजमान ने यह याग किया, मैं इस से बड़ा याग करूंगा । यह स्पर्धा सात्विक् है, उत्साह की द्योतक है । किन्तु यहां प्रसङ्ग अध्वर्यु विषयक है । किसी समय यज्ञ ही ऋत्विजों विशेष कर अध्वर्यु वों की स्पर्धा के स्थल बन गये थे । चरक=कृष्ण यजुर्वेदीय शाखाओं के याज्ञिकों और शुक्ल यजुर्वेद के याज्ञिक याज्ञवल्क्य में बड़ी स्पर्धा देखने में आती है । विशेषकर शतपथ ब्राह्मण में स्थान स्थान पर चरकाध्वर्यु वों के कर्म की निन्दा और अपने कर्म की प्रशंसा देखी जाती है । यद्यपि नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्=निन्दा वचन उस कर्म की निन्दा नहीं करता अपितु विधेय कर्म की स्तुति में प्रवृत्त होता है । इस नहिनिन्दा न्याय (मीमांसा १।४।२६ का भाष्य) से संगति तो लगाई जा सकती है । किन्तु चरक=वैशम्पायन[1] और याज्ञवल्क्य में जो विरोध हो गया था, उस ऐतिहासिक घटना के प्रसङ्ग में देखने पर ज्ञात होता है कि इनकी स्पर्धा एक दूसरे के कर्म की हीनता बताने में थी ।।२५।।

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ।।२६।।

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिए है, अर्थात् अध्वर्यु के फल की आशंसा नहीं है । (स्वामिनः) स्वामी=यजमान के फल की आशंसा है । (तदर्थत्वात्) दर्शपूर्णमास कर्म के यजमान के लिए होने से तदन्तर्गत अग्निसमिन्धन कर्म भी उसी का है । अतः 'मम' शब्द यजमान का अर्थात् मेरे यजमान बोधक है ।

व्याख्या—यजमान का वचन है कर्म के उसके लिए होने से । यजमान के लिए ही यह (=दर्शपूर्णमास) साङ्ग कर्म है । उपग्रहविशेष (=दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः में **आत्मनेपद का प्रयोग होने) से इस साङ्ग कर्म का प्रयोजन यजमान के फल की निष्पत्ति है, न कि सम्यक्तया कार्य करने हारे अध्वर्यु का यश प्रयोजन है । इस से क्या ? [विधिवाक्य में स्वर्गादि] फल का सकीर्तन होने से फल की कर्तव्यता जानी जाती है । यह अग्न्यन्वाधान यजमान के फल का संकीर्तन किये जाने पर इस मन्त्र से फल के साथ सम्बन्ध होने से उत्तम रूप से प्रकाशित होता है, अध्वर्यु के यश के कीर्तन से नहीं होता है । इस कारण यजमान के फल की आशंसा योग्य है ।**

---

१. **चरक इति वैशम्पायनस्याख्या** (काशिका ४।३।१०४) । वैशम्पायन का चरक नाम क्यों पड़ा, इस के लिए हमारी 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' अन्तगत **दुष्कृताय चरकाचार्यम् निबन्ध देखें ।**

एष मन्त्रो भवतीति ? उच्यते । अग्न्यन्वाधानं समाख्यया आध्वर्यवम् । तच्चैवंगुणो मन्त्रो करोत्याध्वर्यवम्, स उच्यतेऽनेन मन्त्रेणेति । तस्माद् आध्वर्यवो मन्त्रः । **मम वर्चोऽस्त्वि** त्यपि यजमानस्य वर्चो ममेति व्यपदिशति लक्षणया । यथा राजनि जयं वर्तमानं सैनिका अस्माकमिति व्यपदिशन्त्येवम् ॥२९॥

(आक्षेप) **यह मन्त्र यजमान सम्बन्धी क्यों न होवे ?** (समाधान) **अग्न्यन्वाधान कर्म 'आध्वर्यव' समाख्या से अध्वर्यु कर्तृक हैं। वहां (=अग्न्यन्वाधान कर्म में) यह गुणभूतमन्त्र, जो आध्वर्यव कर्म करता है वह इस मन्त्र से कहा जाता है । इस कारण मन्त्र अध्वर्युसम्बन्धी है। 'ममवर्चोऽस्तु' में भी [अध्वर्यु] यजमान के वर्चस् को 'मेरा वर्चस्' रूप लक्षणा से कहता है। जैसे राजा में वर्तमान जय सैनिक लोग 'हमारा जय' ऐसा कहते हैं, उसी प्रकार यहां याजमान =यजमान संबन्धी वर्चस् को अध्वर्यु 'मेरा वर्चस्' कहता है।**

विवरण—उपग्रहविशेषात्—आत्मनेपद और परस्मैपद की 'उपग्रह' यह प्राचीन आचार्यों की संज्ञा है। यहां उपग्रहविशेष से आत्मनेपद सूचित किया गया है। **प्रकाशितं कृतं भवति**—का आशय है—सम्यक्तया=उत्तम प्रकार से प्रकाशित होता है। **अथ कस्मान्न याजमान एष मन्त्रो भवति** की व्याख्या में भट्ट कुमारिल ने लिखा है—**मम** पद और **यजेत** आत्मने पद के अनुग्रह के लिए अन्वाधान कर्म भी याजमान ही क्यों न मान लिया जाये ? ऐसा मानने पर 'मम' शब्द और आत्मनेपद दोनों विरुद्ध नहीं होंगे। इस का समाधान किया है—ऐसा नहीं है। यदि यह कर्म मन्त्रपूर्वक होवे तो ऐसा नियम हो सकता है अर्थात् कर्म भी यजमान सम्बन्धी हो सकता है। पहले यह (=मन्त्र) उत्पन्न होता हुआ 'केवल क्रतु के लिए है' इस प्रतीति के होने से आध्वर्यव (=अध्वर्यु के वेद में पठित) समाख्या से अध्वर्यु के सम्बन्ध को प्राप्त होता है। (प्रश्न) अच्छा तो कर्म आध्वर्यव होवे और मन्त्रमात्र यजमानसम्बन्धी होवे अर्थात् अग्न्यन्वाधान कर्म अध्वर्यु करे और मन्त्र यजमान बोले, ऐसा क्यों न होवे ? (समाधान) ऐसा नहीं हो सकता है कर्म के द्वारा आकृष्यमाण मन्त्र का समान कर्तृकत्व का नियम होने से। (प्रश्न) फल का भी आकर्षण होवे अर्थात् फल भी अध्वर्यु का ही होवे ? (समाधान) फल आकृष्ट हो सकता है, यदि आत्मनेपद (यजेत) बाधक न होवे। यहां आत्मनेपद की बाधा के असम्भव होने से और आत्मनेपद के गौणत्व के प्रकार की उपपत्ति न होने से मन्त्रगत ही 'मम' शब्द अध्याहार से पूरित किया जाता है, अथवा गौण होता है—मेरे यजमान का अथवा मेरे रूप वाले यजमान का विहव (=यज्ञ) में वर्चस् होवे। इसलिये यह फल यजमान सम्बन्धी है। जो कल्पसूत्रकार पक्ष में अग्न्यन्वाधान कर्म को यजमानकर्तृक कहते हैं, उन को इसी मन्त्रगत 'मम' शब्द से भ्रान्ति हुई है। और जो वचन उद्धृत करते हैं, वैसा होने पर भी 'क्या कर्म के विकल्प (=अग्न्यन्वाधान कर्म यजमान करे अथवा अध्वर्यु करे) के समान फल भी अध्वर्यु और यजमान का विकल्पित होता है अथवा फल नित्य ही यजमान का होता है ? यह यहां विचार जानना चाहिये। [यह जो कुमारिल का पाठ उद्धृत किया है उस के ग्रन्थ का अनुवाद रूप है।]

---

१. काशीमुद्रिते 'करोत्याध्वर्यव' इत्यपपाठः।

विनियोग-विचार—तन्त्रवार्तिक के इस उद्धरण में भट्ट कुमारिल के **यदि ह्येतन्मन्त्रपूर्वकं कर्म भवेत् तत एवं नियम्येत** (=यदि मन्त्रपूर्वक कर्म होवे तो इस प्रकार नियमन हो सकता है) वचन पर हमें आपत्ति है। प्रश्न यह है कि मन्त्रार्थ के अनुरूप कर्म किया जाये **अथवा** कर्म के साथ मन्त्र को बांधा जाये ? प्राचीन ब्राह्मण-प्रवक्ताओं का कथन है—

१—एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति। ऐ० ब्रा० १।४, १३, १६, १७

अर्थात्—यही यज्ञ की समृद्धता है जो रूप की समृद्धता है। जो कर्म किया जा रहा है उस को ऋचा कहती है।

२—एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपरूपसमृद्ध यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति। गोपथ ब्रा० २।२।६॥

इस में इतना विशेष है—जिस क्रियमाण कर्म को ऋचा वा यजु मन्त्र कहता है। गोपथ के उपर्युक्त उद्धरण को यास्क मुनि ने निरुक्त १।१६ में उद्धृत किया है।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कर्म में मन्त्र का वही विनियोग उचित माना जाता है जो क्रियमाण कर्म को कहता है। यथा—**अग्नये (त्वा) जुष्टं गृह्णामि** (यजु १।१०) इस मन्त्र से पौर्णमास याग में अग्नि देवता के लिए व्रीहि वा यव की चार मुट्ठी ग्रहण करता हूं। अन्न से पूरित कोठे वा घट आदि में से यज्ञोपयोगी अन्नभाग को लेकर यज्ञीय पात्र में रखना निर्वाप कहाता है। इस मन्त्र में **अग्नये** और **गृह्णामि** पद क्रियमाण 'अग्नि देवता के लिए हवि ग्रहण' कर्म को बोधित करते हैं। निरुक्तकार यास्क ने गोपथ ब्राह्मण का वचन उद्धृत करते हुए **क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः** मन्त्रांश उद्धृत किया है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ (ऋ० १०।८५।४२)

अर्थात्—इस गृहस्थाश्रम में तुम दोनों रहो, सम्पूर्ण आयु का भोग करो, पुत्रों और पौत्रों के साथ क्रीडा करते हुए और प्रसन्न होते हुए अपने घर में निवास करो।

यह मन्त्र प्रणयसूत्र में बन्धे हुए नवदम्पती के आशीर्वाद में विनियुक्त है। नव दम्पती को दिये जा रहे आशीर्वाद कर्म को यह मन्त्र पूर्णतया सुन्दर रूप में प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त उद्धरणों का तात्पर्य यह है कि जिस किये जा रहे कर्म को जो मन्त्र प्रकट करने में समर्थ होवे उसे उस कर्म में विनियुक्त करना चाहिये। कर्म कुछ हो रहा है और मन्त्र किसी अन्य अर्थ को ही ध्वनित करता है अर्थात् क्रियमाण कर्म को नहीं कहता तो वह विनियोग अशुद्ध है। ऐसा विनियोग चाहे किसी ने भी क्यों न किया हो, चिन्त्य है। काल्पनिक विनियोग

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २७ ॥

लिङ्गमप्यमुमर्थं दर्शयति । एवं हि आह—**यां वै काञ्चन ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा**[1] इत्याशिषो यजमानार्थकतां दर्शयति । तस्मादपि ब्रूमो यजमानफलमाशासितव्यमिति । पक्षोक्तमेव प्रयोजनमिति ॥२७॥ **करणमन्त्रेषु स्वामिफलस्याशासितव्यताधिकरणम्** ॥१३॥ **वर्चोन्याय** ।

—:०:—

क्वचिद् गौणी वृत्ति से क्वचिद् पद वा पदैकदेश के साम्य से शाखाओं ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में उपलब्ध होता है (द्र० मी० शा० भाष्य व्याख्या भाग १ के आरम्भ में मुद्रित 'श्रौत यज्ञमीमांसा, पृष्ठ ११५—११७; वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, पृष्ठ ८८—९२) । तत्पश्चात् वर्ण अक्षर साम्य से अत्यन्त निम्न कोटि के विनियोगों का भी प्रचलन हुआ । जैसे **शन्नो देवी** मन्त्र का शनैश्चर ग्रह की पूजा में और **उद्बुध्यस्व** मन्त्र का बुध ग्रह की पूजा में विनियोग हुआ । इस का परिणाम **मन्त्रानर्थक्यवाद** के रूप में परिणत हुआ (द्र० श्रौतयज्ञमीमांसा, पृष्ठ ११७-१२०; वैदिकसिद्धान्तमीमांसा, पृष्ठ ९३—९६)

यह सब क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर है—यज्ञों में जनता की श्रद्धा का दुरुपयोग कर के याज्ञिकों द्वारा नवीन काल्पनिक यज्ञों की कल्पना करना । हमने ऊपर भट्ट कुमारिल का जो उद्धरण दिया है, उसमें 'ऐसा नहीं है । यदि यह कर्म मन्त्रपूर्वक होवे तो ऐसा नियमन हो सकता है' इत्यादि अंश देखें । उस से स्पष्ट होता है कि मन्त्र पूर्वक=मन्त्रार्थानुसृत कर्म को ये महानुभाव नहीं मानते । इन का मत है—'कर्मपूर्वक मन्त्र हैं' अर्थात् कर्मों में विनियोग के लिए मन्त्र हैं, उन्हें किसी भी प्रकार विनियोग किया जा सकता है । भट्ट कुमारिल का कह यह मत **घोड़े के आगे गाड़ी जोतने** के समान है ॥२६॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२७॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) आशी के विषय में **यां वै काञ्चन ऋत्विज आशिषमाशास्ते यजमानस्यैव सा**=ऋत्विक् जन जिस किसी आशी की चाहना करते हैं वह यजमान की ही होती है, इस लिङ्ग के दर्शन से (च) भी यजमानसम्बन्धी फल ही आशंसा योग्य है ।

व्याख्या—लिङ्ग भी इसी अर्थ को दर्शाता है । ऐसा कहा है—यां वै काञ्चन ऋत्विज आशिषमाशास्ते यजमानस्यैव सा (=ऋत्विक् लोग जिस किसी आशी की चाहना करते हैं वह यजमान की ही होती है) वचन आशी की यजमानार्थकता को कहता है । इस लिये भी कहते हैं—यजमान का फल आशंसा योग्य है ।

१. अनुपलब्धमूलम् ।

[करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य ऋत्विग्धर्मताधिकरणम् ॥१४॥]

इदं समधिगतं, करणेषु मन्त्रेषु स्वामिनः फलमाशासितव्यमिति । किमेष एवोत्सर्गः ? नेत्याह—

कर्मार्थन्तु फलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात् ॥ २८ ॥

क्वचित् ऋत्विजामपि फलमाशासितव्यमिति, यत्र कर्मार्थं फलम् । यथा अग्नाविष्णू मा वामक्रमिषं विजिहाथां मा मा सन्ताप्तम्[1] इति । असन्तप्तोऽध्वर्युः कर्म्म शक्नोति कर्त्तुम् । कर्म्मसिद्धिर्यजमानस्योपकारिकेति ऋत्विक्फलमाशासितव्यमत्रेति ॥२८॥

इस विचार का प्रयोजन पक्षोक्त ही है, [अर्थात् पूर्वपक्ष में वर्चस् फल अध्वर्यु सम्बन्धी है, और सिद्धान्त में यजमान सम्बन्धी । यह वर्चो न्याय कहाता है] ॥२७॥

—:o:—

व्याख्या—यह जाना गया है कि करण मन्त्रों में स्वामी का फल आशंसा योग्य है । क्या यही उत्सर्ग (=सामान्य) है ? नहीं, ऐसा कहते हैं—

कर्मार्थं तु फलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वाधिकरण सिद्धान्त के अपवाद के लिए है । (कर्मार्थम्) कर्म की सिद्धि के लिए जो (फलम्) फल है वह (तेषाम्) उन ऋत्विजों का है । उसके (स्वामिनं प्रति) स्वामी=यजमान के प्रति (अर्थवत्त्वात्) अर्थवान्=प्रयोजनवान् होने से ।

व्याख्या—कहीं कहीं ऋत्विजों के फल की भी आशंसा करनी योग्य है, जहां कर्म की सिद्धि के लिए फल होवे । जैसे—अग्नाविष्णू मा वामक्रमिषम्, विजिहाथां मा मा सन्ताप्तम् (=हे अग्नि और विष्णु देवो ! मैं आपका अतिक्रमण न करूं, मुझे मध्य से जाने के लिए वियुक्त पृथक् होवें, मुझे आप दोनों सन्तप्त=दुःखी न करें) । असन्तप्त अध्वर्यु कर्म कर सकता है, [सन्तप्त हुआ कर्म नहीं कर सकता] । कर्म की सिद्धि यजमान की उपकारिका है । इस कारण यहां ऋत्विक् के फल की आशंसा योग्य है ।

विवरण—आहवनीय अग्नि के दक्षिण पश्चिम और उत्तर में परिधि (=बाहु परिमाण पलाश की ३ इध्म) रखी जाती है । इन में मध्यम परिधि पश्चिम वाली है । उस के अग्र भाग में अग्नि वर्तमान है । आहवनीय के पश्चिम में वेदि के मध्य स्थित स्रुक् के अग्र भाग में यज्ञरूप विष्णु (यज्ञो वै विष्णुः) है । क्यों कि स्रुक् के अग्र भाग से आहुति देने से विष्णु रूप यज्ञ सम्पन्न होता है । स्रुक् वेदि में प्रस्तर पर रखी जाती है । अतः अध्वर्यु आघार होम के लिए प्रस्तर का दक्षिण पैर से अतिक्रमण करता है=लांघता है अर्थात् आहवनीयरूप अग्नि के और

---

1. तै० सं० १।१।१२॥

व्यपदेशाच्च ॥ २६ ॥

यत्र च व्यपदेशो भवति, तत्रार्त्विजम्। दक्षिणस्य हविर्द्धानस्याधस्ताच्चत्वार उपरवाः प्रादेशमुखाः प्रादेशान्तरालाः[1]। तत्र हस्तौ प्रवेश्याध्वर्युर्यजमानमाह, **किमत्र**[2] इति ? स आह—**भद्रम्**[3] इति। **तन्नौ सह**[4] इत्यध्वर्युः प्रत्याहेति व्यपदेशो भवत्यध्वर्योर्यजमानस्य च। **तन्नौ सह** इत्यु भयोर्वचनमध्वर्युयजमानयोः। तस्मादध्वर्युः फलमाशासितव्यमत्रेति ॥२६॥ **करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य ऋत्विग्धर्मताऽधिकरणम् ॥१४॥**

प्रस्तर पर रखे स्रुक् के अग्र भाग में विद्यमान यज्ञ रूप विष्णु का अति क्रमण न होवे इस के लिये अध्वर्यु **अग्नाविष्णू** मन्त्र से अग्नि और विष्णु से कहता है—हे अग्नि और विष्णु देवो ! मैं आप का अतिक्रमण न करूं अर्थात् आप मुझे जाने के लिए मार्ग देवें इत्यादि (द्र० तै० सं० १।१।१२; आप० श्रौत २।१३।७ तथा दोनों के भाष्य) ॥२८॥

व्यपदेशाच्च ॥२६॥

सूत्रार्थः – (व्यपदेशात्) कथन=निर्देश से (च) भी ऋत्विक् के फल की आशंसा जानी जाती है।

व्याख्या—जहां व्यपदेश (=कथन=निर्देश) होता है, वहां ऋत्विक सम्बन्धी फल होता है। दक्षिण हविर्धान् के नीचे चार उपरव[5] संज्ञक गड्ढे होते हैं। उन का मुह प्रादेशमात्र (=१०-११ अंगुल) का होता है और प्रादेशमात्र ही बीच की दूरी वाले होते हैं। [इनका स्वरूप विवरण में देखें] इन में एक ओर से यजमान और दूसरी ओर से अध्वर्यु हाथ डाल कर अध्वर्यु यजमान से पूछता है—किमत्र (=यहां क्या है ? वह यजमान कहता है भद्रम् (=कल्याण है)। तन्नौ सह (=वह दोनों का साथ होवे) ऐसा अध्वर्यु उत्तर देता है। इसमें 'नौ' पद से अध्वर्यु और यजमान का व्यपदेश होता है। तन्नौ सह [में 'नौ'] दोनों अध्वर्यु और यजमान का वचन है। इसलिये यहां अध्वर्यु के फल की आशंसा करनी योग्य है।

विवरण—दक्षिण हविर्धान शकट (=जिस पर सोम रखा है) के नीचे आधे पूर्व भाग में उपरव संज्ञक चार गड्ढे खोदे जाते हैं। इन खुदे हुए उपरवों का परस्पर अन्तराल प्रादेश मात्र होता है। खोदने से पहले भूमि पर उपदिशाओं की इस प्रकार की रेखा खींच कर पहले दक्षिण-पूर्व=आग्नेयी दिशा के छोर पर ० गोल चिह्न लगावे तत्पश्चात् उत्तर-पश्चिम=वायवी दिशा के छोर पर, तदन्तर दक्षिण-पश्चिम=नैर्ऋती दिशा के छोर पर, तत्पश्चात् उत्तर-पूर्व=ऐशानी

---

१. द्र०—कात्या० श्रौत० ८।५।१—६ ॥ आप० श्रौत ११।११।१—१०॥

२. द्र०—कात्या० श्रौत ८।५।१०॥ ३. द्र०—कात्या० श्रौत ८।५।१५॥

४. द्र०—कात्या० श्रौत ८।५।१६॥

५. इन का उपरव नाम इसलिये है कि इन के ऊपर उपांशुसवन संज्ञक पत्थर रखकर उस पर सोम कूटते समय शब्द होता है—उप=उपरि ग्राव्णां रवः=शब्दो यत्र ते उपरवाः।

[द्रव्यसंस्कारस्याङ्गप्रधानार्थताधिकरणम् ॥१५॥]

दर्शपूर्णमासयोर्बर्हिर्धर्मा वेदिधर्माश्च[1]। तेषु सन्देहः—किमङ्गप्रधानार्थाः, उत प्रधानार्था इति ? प्रकरणात् प्रधानार्था इति। इति प्राप्ते, उच्यते—

दिशा के छोर पर ० चिह्न बनावे। ० गोल चिह्न प्रादेशमात्र होना चाहिये। उपरव खोदने के लिये ० गोल चिह्न लगाने में पक्षान्तर है—पहला वायवी दिशा में, दूसरा आग्नेयी दिशा में तीसरा नैर्ऋती दिशा में, चौथा ऐशानी दिशा में। पक्षान्तर है कि चारों उप दिशाओं में |‾‾‾| सीधी रेखा खींच कर पूर्व उल्लिखित पक्षानुसार उपरव के चिह्न करे। तदनन्तर उपदिशाओं में प्रादेश मात्र ० चिह्नित स्थानों को तिरछे खोदकर भूमि के नीचे ही परस्पर मिला दें, जिससे उनमें दोनों ओर से हाथ डालने पर मिल जावें। उपरव खोदते समय ऐसी सावधानी बर्तनी चाहिये कि उपर की भूमि=उपर की त्वचा उखड़ न जावे। तत्पश्चात् पूर्व दक्षिण=आग्नेय कोण के उपरव में अध्वर्यु हाथ डाले और उत्तरपश्चिम=वायव्य कोणस्थ उपरव में यजमान हाथ डाले और दोनों एक दूसरे से हाथ मिलावें। अध्वर्यु यजमान से पूछे—**किमत्र**=यहां क्या है ? यजमान उत्तर देवे—**भद्रम्**=भद्र है। इस पर अध्वर्यु कहे—**तन्नौ सह**=वह हम दोनों का साथ साथ होवे। तत्पश्चात् उसी प्रकार दक्षिणपश्चिम=नैर्ऋत्य कोण के उपरव में अध्वर्यु और पूर्व उत्तर=ऐशान कोण के उपरव में यजमान हाथ डालता है। यजमान पूछता है—अध्वर्यो किमत्र ? अध्वर्यु उत्तरदेता है—**भद्रम्**। इस पर यजमान कहता है—**तन्मम**=वह मेरा होवे (द्र० कात्यायन श्रौत ८।४।२६—८।५।१८ तक उपरव सम्बन्धी प्रकरण)।

विशेष—आपस्तम्ब श्रौत में कात्यायन श्रौत से उलटी विधि है। आप० श्रौत ११।१२।३ के अनुसार दक्षिणपूर्व=आग्नेय कोण के उपरव में यजमान हाथ डालता है, और उत्तरपश्चिम =वायव्य कोण के उपरव में अध्वर्यु। तत्पश्चात् यजमान अध्वर्यु से पूछता है—हे अध्वर्यो **किमत्र**। अध्वर्यु कहता है—**भद्रमिति**। **तन्नौ सह** ऐसा यजमान कहता है। तत्पश्चात् उत्तर पूर्व=ऐशान कोण के उपरव में यजमान और दक्षिणपश्चिम=नैर्ऋत्य कोण के उपरव में अध्वर्यु हाथ डालता है। तत्पश्चात् यजमान अध्वर्यु से पूछता है—**किमत्र**। अध्वर्यु उत्तर देता है= भद्रम्। यजमान कहता है—**तन्मम**=वह भद्र मेरा होवे ॥२९॥

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में बर्हि और वेदि के धर्म पठित हैं। उन में सन्देह होता है—क्या ये अङ्ग और प्रधान दोनों के लिए हैं अथवा केवल प्रधान के लिए ? [दर्शपूर्णमास के] प्रकरण से प्रधान के लिए हैं [क्यों कि दर्शपूर्णमास प्रधान कर्म की संज्ञा है]। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. द्र० मी० भाष्य ३।७।१ उपोद्घात और उस का विवरण (पृष्ठ १०४८)।

द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥ ३० ॥

नैवं, द्रव्यसंस्कारोऽङ्गप्रधानार्थो, यथा व्याख्यातमेवोत्तरविवक्षया प्राप्तिरेषा क्रियते इति ॥३०॥ द्रव्यसंस्कारस्याङ्गप्रधानार्थताधिकरणम् ॥१५॥

—:०:—

[अपूर्वप्राकृत धर्माणां विकृतावसंबन्धाधिकरणम् ॥१६॥]

ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते[1] इति । तत्र श्रूयते—बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति[2], आज्येन यूपमनक्ति[3] इति तत्र संशयः—किं तयोराज्य-बर्हिषोराज्यबर्हिर्धर्माः प्राकृताः कर्त्तव्याः, उत नेति ? किं प्राप्तम् ? कर्त्तव्या इति । कुतः ? वाक्यं हि बर्हिर्मात्रस्याज्यमात्रस्य च धर्म्माणां विधायकम् । तदिहाऽपि वाक्यं चोदकेन प्राप्तम् । न चैतद् बर्हिराज्यं निष्प्रयोजनम् । तस्मादत्र धर्म्माः क्रियेरन्निति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

[द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥३०॥]

सूत्रार्थः—(द्रव्यसंस्कारः) द्रव्य का जो संस्कार कहा है वह (प्रकरणाविशेषात्) अङ्ग वा प्रधान का प्रकरण विशेष न होने से (सर्वकर्मणाम्) अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों के हैं।

व्याख्या—ऐसा नहीं है [कि बर्हि और वेदि के धर्म प्रधान के हैं] । द्रव्य का संस्कार अङ्ग और प्रधान सभी के लिए है । जैसा कि पूर्व (मी० ३।७। (अधि० १) सूत्र १-५, पृष्ठ १०४६—१०४६) व्याख्यात किया है । अगले विषय की विवक्षा से पूर्वसिद्ध विषय की प्राप्ति मात्र यहां कराई है ॥३०॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु है—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशु-मालभते (=जो दीक्षित अग्नि और सोम देवता वाले पशु का आलभन करता है) । वहां सुना जाता है—बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति (=यूप को खड़ा करने के लिए जो गड्ढ़ा खोदा गया है, उसे बर्हि से ढंकता है)। आज्येन यूपमनक्ति (=आज्य से यूप को चिकना करता है= यूप पर घृत चुपड़ता है) । इन में संशय होता है=क्या यूपावट को ढकने के लिए जो बर्हि और यूप पर चुपड़ने के लिये जो घृत है, उन में प्राकृत (=दर्शपूर्णमास में उक्त) धर्म करने चाहियें वा नहीं करने चाहियें ? क्या प्राप्त होता है ? [प्राकृत धर्म इन बर्हि और आज्य में] करने चाहियें । किस हेतु मे ? वाक्य (=बर्हि और आज्य के धर्म विधायक वचन) निश्चय ही बर्हि-मात्र और आज्यमात्र के धर्मों के विधायक हैं । वह (=बर्हि और आज्य के धर्म विधायक) वाक्य चोदक (=अतिदेश वचन)से यहां भी प्राप्त होते हैं । यह (=पशुयाग संबद्ध) बर्हि और आज्य निष्प्रयोजन नहीं हैं । इसलिए धर्म किए जाने चाहियें । इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. तै० सं० ६।१।११॥ २. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—शत० ३।७।१।७॥
३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—शत० ३।७।१।११॥

निर्देशात्तु विकृतापूर्वस्यानधिकारः ॥३१॥

निर्दिष्टा एते धर्म्माः प्रकृतौ । यत्र प्रधानस्योपकुर्वन्ति प्राकृतकार्य्ययोराज्य-

विवरण—बर्हिराज्यधर्माः—बर्हि के धर्म हैं—लवन=काटना, संभरण=लाना, सन्न-हन=बांधना, प्रोक्षण=जल के छीटें देना आदि। आज्य के धर्म हैं—विलापन=पिघलाना, पल्यवे-क्षण=पत्नी द्वारा अग्नि पर से उतारे गये आज्य को देखना, उत्पवन=पवित्र संज्ञक दो कुशाओं से आज्य उत्पवन[1] आदि। ये बर्हि और आज्य के धर्म दर्शपूर्णमास नामक प्रकृति याग में पठित हैं। **तदिहापि वाक्यं चोदकेन प्राप्तम्—प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** इस अतिदेश वचन से यहां भी प्रकृति गत धर्म प्राप्त होते हैं। **न चैतद् बर्हिराज्यं निष्प्रयोजनम्**—संस्कार कर्म में प्रयुक्त द्रव्य में करणीय होते हैं। बर्हि का प्रयोग यूप के गर्त को ढकना है, और आज्य का प्रयोजन यूप को चिकना करना है।

निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्यानधिकारः ॥३१॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द उत्सूत्र (=सूत्र से बाहर) निर्दिष्ट पूर्व पक्ष—'यूपावट के आच्छादन के लिए उक्त बर्हि में बर्हिधर्म, और यूपाञ्जन में प्रयुक्त आज्य में आज्य धर्म की प्राप्ति' की निवृत्ति के लिये है। (अपूर्वस्य) प्राकृत कार्य में अप्रयुक्त द्रव्य का (निर्देशात्) अति-देश वाक्य से (विकृतौ) विकृति में (अनधिकारः) अधिकार नहीं होता है अर्थात् अतिदेश से उक्त धर्म प्राप्त नहीं होते हैं।

विशेष—प्रकृति से विकृति में उन्हीं धर्मों का अतिदेश होता है जो प्रधान के अपूर्व से प्रयुक्त होते हैं। प्रकृति में बर्हि का संस्कार प्रधान याग की हवियों के आसादन के लिये होता है—**बर्हिषि हवींष्यासादयति**[2]। इसी प्रकार संस्कार से संस्कृत हवि से याग होता है। यह बात दशमा-ध्याय के प्रथम पाद के प्रथम अधिकरण में सिद्धान्तित है।

भाष्यकार ने **द्रव्यसंस्काराः** आदि पूर्व सूत्र को भट्ट कुमारिल के मतानुसार[3] पूर्व सिद्धान्तित वस्तु को स्मरण कराकर अगला प्रसंग चलाने के लिए उपस्थित किया है। अतः प्रकृत सूत्र में पूर्व पक्ष उत्सूत्र=सूत्र से बाहर उपस्थित करके प्रकृत सूत्र से सिद्धान्त दर्शाया है। कुतुहलवृत्ति-कार ने **द्रव्यसंस्काराः** आदि सूत्र को इसी अधिकरण का पूर्वपक्ष का सूत्र मान कर व्याख्यान किया है।

व्याख्या—ये (=बर्हि आज्य के) धर्म प्रकृति (=दर्शपूर्णमास) में निर्दिष्ट हैं। जहां प्रधान के उपकारक होते हैं, ऐसे प्राकृत कार्यों में बर्हि और आज्य के ये धर्म हैं।

१. उत्पवन उस संस्कार को कहते हैं जो पात्र में स्थित द्रव द्रव्य आज्य आदि का दोनों हाथों से पवित्र संज्ञक दो कुशाओं को परस्पर असंसृष्ट रखते (परस्पर न मिलाते) हुए पकड़ कर उन से द्रव्य के उपर के भाग का चलाना होता है।

२. द्र०—मी० भाष्य ३।७।२ सूत्र।

३. शक्यं तु पूर्वपक्षेऽप्येतत् समर्थयितुम्.........। तन्त्रवार्तिक।

बर्हिषोः। ये च प्रधानस्योपकारिणो धर्म्मास्ते इहातिदिश्यन्ते। प्रधानं हि चोदकोऽपेक्षते, न धर्म्मान्। प्रधानस्य हि चोदकेन सामान्यं, न धर्म्माणाम्। अपि च, न अन्यार्ऽथ इति ज्ञातेन सन्निहितेनाप्येकवाक्यता भवति, अन्यसम्बन्धोपपत्तौ सत्याम्। यथा भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्येति। किमङ्ग पुनर्विप्रकृष्टेन। निर्ज्ञातं खल्वङ्गत्व प्रधानापेक्षायां भवति। केवलमिहाऽतिदेशः क्रियते। पदार्थापेक्षायामङ्गत्वमपि साधयितव्यं स्यात्। धर्म्माश्चापेक्ष्यमाणाः साधारणा भवेयुः। तथा ऊहो नावकल्पेत।

लिङ्गविशेषदर्शनाच्च व्यवतिष्ठेरन् धर्म्माः। तत्र दर्शनं नोपपद्येत— **वपया प्रातः**

और जो धर्म प्रधान के उपकार करने वाले होते हैं, वे यहां (=विकृति में) अतिदिष्ट होते हैं। चोदक (=अतिदेशक) वचन प्रधान की अपेक्षा करता है, **धर्म** की अपेक्षा **नहीं करता। प्रधान का ही चोदक से** सामान्य है, धर्मों की समानता नहीं है। **और भी— अन्य प्रयोजन वाला** है ऐसे ज्ञात सन्निहित की भी एक वाक्यता नहीं होती है, **अन्य सम्बन्ध के उपपन्न होने पर। जैसे** भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य [यहां षष्ठचन्त राज शब्द **का समीप पठित पुरुष के साथ एक वाक्यता नहीं होती है,** क्योंकि पुरुष शब्द का देवदत्त के साथ सम्बन्ध है। **अत एव यहां समास भी नहीं** होता है]। फिर विप्रकृष्ट के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? **प्रधान की अपेक्षा होने पर अङ्गत्व (=अङ्गभाव) जाना जाता** है। यहां केवल **अतिदेश किया जाता है। पदार्थ की अपेक्षा में अङ्गत्व को** भी सिद्ध करना होगा। और धर्ममात्र **अपेक्षित हुए साधारण हो जाएंगे। उस अवस्था में ऊह** की उपपत्ति (वा आवश्यकता) नहीं होगी।

विवरण—प्राकृत कार्ययोराज्यबर्हिषोः—**प्रकृतौ भवं प्राकृतम्**=**प्रकृति में होने वाला** प्राकृत। **प्राकृतं कार्यं ययोस्तौ प्राकृतकार्यौ**=प्रकृतिगत कार्य है जिन का, **वे** प्राकृत कार्य वाले, **तयोः प्राकृतकार्ययोः आज्यबर्हिषोः**—उन प्रकृतिगत कार्य वाले आज्य और बर्हि में। बर्हि का प्रकृतिगत कार्य है—**बर्हिषि हवींष्यासादयति**=बर्हि पर हवियों को रखता है। **और** आज्य का प्रकृति गत कार्य है होम। इन प्रकृति गत कार्यों को करते हुए प्राकृत बर्हि और आज्य प्रधान दर्शपूर्णमास के उपकारक होते हैं। **साधारणा भवेयुः तथा ऊहो नावकल्पेत**—यदि प्रधान के उपकार को छोड़ कर विकृतियां धर्ममात्र की अपेक्षा करें तो धर्म प्रकृति विकृति के साधारण हो जावें। ऐसी अवस्था में सौर्य याग में **अग्नये त्वा जुष्टं** निर्वपामि मन्त्र में **अग्नि के स्थान में सूर्याय** पद का ऊह नहीं होगा। क्योंकि हविर्निर्वाप धर्म प्रकृति विकृति का साधारण है। यदि निर्वाप धर्म को प्रधान का उपकारक मानें तो आग्नेय याग में अग्नि पद घटित मन्त्र से किया गया हविर्निर्वाप आग्नेय याग में उपकारक होगा। सौर्य याग में अग्नि पद घटित मन्त्र से किया गया हविर्निर्वाप सौर्ययाग का उपकारक न होगा। हविर्निर्वाप को सौर्ययाग का उपकारक बनाने के लिए सूर्यपद घटित मन्त्र से हविर्निर्वाप करना होगा। सूर्यपद घटित हविर्निर्वाप का कोई मन्त्र नहीं है। अतः अग्नि के स्थान में सूर्य पद का ऊह करना पड़ता है—**सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि** ऐसा मन्त्र स्वरूप बनाकर सौर्ययाग में हवि का निर्वाप किया जाता है।

लिङ्गविशेष के दर्शन से भी धर्म व्यवस्थित होते हैं। वहां दर्शन उपपन्न न हो वे—

सवने चरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने' इति तथा **न पिता वर्धते, न माता, न नाभिः, प्राणो हि सः**' इति । तस्माद् यद्द्वारा प्रकृतौ कृताः, तद्द्वारैव विकृतौ, नान्यद्वारा । न च यूपावटस्तरणं प्रकृतावस्ति यूपाञ्जनं वा । तस्मान्न तत्र प्राकृता धर्म्मा भवेयुरपूर्वत्वात् ॥३१॥
अपूर्वप्राकृतधर्माणां विकृतावसम्बन्धाऽधिकरणम् ॥१६॥

—:०:—

वपया प्रातः सवने चरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने (=**वपा से प्रातः सवन में कर्म होता है, पुरोडाश से माध्यन्दिन सवन में**) । तथा—न पिता वर्धते न माता, न नाभिः प्राणो हि सः (=**पिता नहीं बढ़ता, माता नहीं बढ़ती, नाभि नहीं बढ़ती, वह प्राण ही है**) [**द्र० विवरण**] । **इस लिये जिस के द्वारा** (=प्रधान के **उपकारकत्व को जानकर**) **प्रकृति में धर्म किये गये हैं उसी के द्वारा विकृति में प्राप्त** होते हैं, **अन्य के द्वारा प्राप्त नहीं होते । न यूप के अवट का आच्छादन प्रकृति में है और ना हि यूप का अञ्जन । इस कारण वहां अपूर्व होने से प्राकृत धर्म न होवें ।**

विवरण—लिङ्गविशेषदर्शनाच्च .....**वपया प्रातः सवने प्रचरन्ति पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने**—पूर्व मीमांसा **३।६।२६** सूत्र है **लिङ्गदर्शनाच्च** । इस के भाष्य में इसी वचन को उद्धृत करके कहा है—**पशुधर्म** अग्नीषोमीय पशु याग के हैं । यह अग्नीषोमीय पशु सब पशु यागों की प्रकृति है । **अतः** सवनीय पशु में अग्नीषोमीय से कर्मों का अतिदेश होता है । पशु धर्मों को समान विधान वाला मानने पर अग्नि और सोम दो देवता के लिए कहा गया पशुपुरोडाश अग्नीषोमीय पशु का ही उपकारक होगा, एक देवता वाले सवनीय पशु याग का उपकारक न होने से सवनीय पशुयाग में पशुपुरोडाश की प्राप्ति नहीं होगी । पशुपुरोडाश को प्रधान याग का उपकारक मानने प॰ जैसे पशुपुरोडाश अग्नीषोमीय याग का उपकारक होता है वैसे ही सवनीय पशु का भी होवे । इस प्रकार अतिदेश से सवनीय पशुपुरोडाश की प्राप्ति हो सकती है (द्र० मी॰ भाष्य ३।६।२६) । इसी की ओर यहां संकेत किया गया है । **न पिता वर्धते न माता न नाभिः**—अग्नीषोमीय पशु याग में अध्रिगु मन्त्र में पढ़ा है—**अनु त्वा माता मन्यतामनुपिता ऽनुभ्राता संगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः** (आश्व० श्रौत ६।३) । इस मन्त्र में आये माता पिता भ्राता आदि शब्द नहीं बढ़ते हैं अर्थात् दो पशुओं वाले याग में द्विवचनान्त और बहुत पशुओं वाले याग में बहुवचनान्त ऊहित नहीं होते (द्र० मी० भाष्य ६।३ अधि० सूत्र २) । इस वचन से जाना जाता है कि द्विपशुयाग और बहुपशुयाग में द्विवचनान्त और बहुवचनान्त शब्दों के रूप में ऊह प्राप्त है । वह ऊह तभी प्राप्त होगा जब मन्त्र गत माता आदि पद अग्नीषोमीय पशुयाग के प्रधान के उपकारक होते हुए अन्वित हों । यदि मातृत्व पितृत्व धर्ममात्र की अपेक्षा की जाये तो द्विपशुयाग और बहुपशु यागों में धर्म के समान होने से ऊह न होवे । ऊह न होने पर वृद्धि (वचन वृद्धि) की प्राप्ति ही नहीं, तब निषेध अनर्थक

१. मै० सं० ३।६।५॥
२. अनुपलब्धमूलम् । अत्र मी० भाष्य ६।३।२॥

[विधृतिपवित्रयोः परिभोजनीयबर्हिषाकर्तव्यताधिकरणम् ॥१७॥]

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति—समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रं करोति[1], तथा

होता है। मी० भाष्य ९।३।२ में **न माता वर्धते न पिता न भ्राता न सखा** पाठ है। प्रकृत सूत्र में भाष्यकार ने **न पिता वर्धते न माता न नाभिः प्राणो हि सः** पाठ उद्धृत किया है वह किस शाखा का है यह हमें ज्ञात नहीं हुआ। आश्वलायन श्रौत ३।२ के अन्त में कहा है=**नाभिरुपमा मेऽदोहविरित्यनूह्यानि**—नाभि, उपमार्थक श्येनादि शब्द 'मे' और 'अदः' शब्दों का ऊह नहीं होता है। सम्भवतः यहां नाभि शब्द से माता पिता भ्राता आदि का भी ग्रहण है। क्योंकि आ० श्रौ० ३।३ की व्याख्या में जिन पदों का ऊह दर्शाया है उन में ये पद नहीं हैं। भर्तृहरि ने महाभाष्य अ० १, पाद १ की व्याख्या में अनूह्य पदों का निर्देश इस प्रकार किया है—

> **अङ्गानि ज्ञातिनामान्युपमा चेन्द्रियाणि च।**
> **एतानि नोहं गच्छन्ति अध्रिगौ विषमं हि तत्॥** पूना मुद्रित पृष्ठ ७।

अर्थात्—अङ्गों के नाम ज्ञातिनाम माता आदि उपमावाची और इन्द्रिय वाचक पदों का आध्रिगु मन्त्र में ऊह नहीं होता है।

कहां ऊह होता है कहां नहीं होता है, इस का परिज्ञान मीमांसा शास्त्र से मुख्यतया होता है, व्याकरण शास्त्र की प्रवृत्ति ऊह्य पदों के ज्ञात होने पर होती है—

एवमिदमूह्यमिदमनूह्यमिति न्यायादवस्थिते लिङ्गवचनविभक्तीनां सम्यग्विनियोगे व्याकरणस्य व्यापारः। भर्तृ० महा० व्याख्या, पृष्ठ ७, पूना सं०। (न्यायात्=मीमांसाशास्त्रीय-न्यायात्)।

यही भर्तृहरि ने वाक्यपदीय का० १, का० ११ की स्वोपज्ञ व्याख्या में कहा है। निरुक्त टीकाकृत् स्कन्दस्वामी ने भी लिखा है—

अस्मिश्चोह्यानूह्येऽपि विचारस्य मीमांसाविषयत्वात् ऊह्यस्य प्रतिपत्तौ न व्याकरणस्य व्यापारान्निरुक्तव्यापारस्तेनेह व्याख्यातृभिरक्षरमात्रं विव्रिते। निरुक्त ५।११ टीका, भाग २, पृष्ठ ३३१। इस का भी भाव पूर्ववत् ही है। **तस्मान्न तत्र प्राकृता धर्मा भवेयुः**—बर्हि और आज्य शब्द जाति वाचक हैं, संस्कारनिमित्तक नहीं है। यह मी० १।४। अधि० ७, सूत्र १० में सिद्धान्त किया है। अतः यूपावट के आच्छादन में लवनादि संस्कार रहित लौकिक बर्हि का और यूपाञ्जन में उत्पवनादि संस्कार विरहित लौकिक आज्य का ग्रहण होता है।

—:o:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में पढ़ते हैं—**समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे करोति** (=बराबर परिमाण वाले, जिन का अग्रभाग टूटा हुआ न हो ऐसे प्रादेश परिमाण वाले

१. अनुपलब्धमूलम्। 'कुरुते' इति भेदेन आप० श्रौत १।११।७।

अरत्निमात्रे विधृती करोति'। तत्र संशयः। किं वेदिस्तरणार्थाद् बर्हिषो विधृती पवित्रे, उतान्यत इति। किं तावत् प्राप्तम्। वेदिस्तरणार्थाद् बर्हिष कार्ये। किं कारणम्। तद्धि प्रकृतं, धर्म्मादिचाविशेषात् सर्वबर्हिषामर्थेन। तस्मात् तत इति प्राप्ते। ब्रूमः—

विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे ॥३२॥ (उ०)

अन्यतः क्रियेत। कुतः? विरोधात्। कथं विरोधः? श्रूयते हि—त्रिधातु पञ्चधातु

दो दर्भों को 'पवित्र' बनाता है), तथा अरत्निमात्रे विधृती करोति (=अरत्निपरिमाण २० वा २२ अङ्गुल परिमाण वाले दो दर्भों को 'विधृति' बनाता है। वहां संशय होता है— क्या वेदि के आच्छादन के लिये जो बर्हि (=दर्भ) हैं उन से [उक्त परिमाण वाले दर्भों को] २ विधृति और २ पवित्र बनाता है, अथवा अन्य बर्हि से? क्या प्राप्त होता है? वेदि के आच्छादन के लिए जो बर्हि है उस से बनाता है। क्या कारण है? वह (=वेदिस्तरण के लिए लाया हुआ बर्हि) प्रकृत (=विद्यमान) है। [लवनादि संस्कार रूप] धर्म सामान्य रूप से निर्दिष्ट होने से सब बर्हि के प्रयोजन से हैं। इस कारण उस (=वेदिस्तरणार्थ लाये गये बर्हि) से [विधृति और पवित्र की निष्पत्ति के] प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पवित्र संज्ञक दो दर्भ घृतादि द्रव द्रव्य के उत्पवनार्थ होते हैं यह पूर्व कह चुके (पृष्ठ ११४५) वेदि में पूर्व पश्चिम रूप में आच्छादित बर्हि के ऊपर दोनों विधृतियां उत्तर दक्षिण धरी जाती हैं। इन पर पुनः प्रस्तर संज्ञक बर्हि पूर्व पश्चिम रखे जाते हैं। प्रस्तर पर घृत लिप्त जुहू धरी जाती है। अन्त में **प्रस्तरं प्रहरति** वचनानुसार प्रस्तर को अग्नि में डाल देते हैं। प्रस्तर प्रहरण काल में वेदिस्तरणार्थ बर्हि के साथ प्रस्तर की बर्हि मिल न जाये, इस के लिए दोनों के मध्य भेदार्थ चिह्न रूप विधृतियां रखी जाती हैं। **विशेषेण प्रस्तरं धार्यत आभ्याम्**= जिस से प्रस्तर संज्ञक बर्हि को पृथक् करते हुए धारण करती हैं, अतः इन्हें विधृति कहते हैं।

विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे ॥३२॥

सूत्रार्थः—संस्कृत बर्हि को विहित वेदिस्तरण से अन्य कार्य में प्रयुक्त करने में (श्रुतिविशेषात्) वेदिस्तरण वचन **त्रिधातु पञ्चधातु वा बर्हिस्तृणाति**='तीन मुट्ठी वा पांच मुट्ठी संस्कृत बर्हि से वेदि को आच्छादित करता है' से (विरोधे) विरोध होने पर यूपावटाच्छादक बर्हि और यूपाञ्जन में प्रयुक्त आज्य में असंस्कृत के ग्रहण के समान (शेषे) विधृति और पवित्र कार्य में (च) भी (अव्यक्तः) संस्कार धर्म रहित दर्भ मुष्टि से बर्हि का ग्रहण होता है।

व्याख्या—[विधृति और पवित्र] अन्य बर्हि से किये जायें। किस हेतु से? विरोध होने से। विरोध कैसे है? सुना जाता है—त्रिधातु पञ्चधातु वा वेदिं स्तृणीत (=बर्हि

---

१. अनुपलब्धमूलम् ॥

वा वेदीस्तृणाति' इति। तद् येनास्तीर्यते, कथं तद् विधृतिपवित्रं क्रियेत। न हि सम्भवत्येकं स्तरणाय विधृतिपवित्राय च। तदेतदुपदिष्टवचनमनेकगुणत्वं चोभे अप्यसम्भविनी प्रतिज्ञाते स्याताम्। तस्मान्न ततः क्रियेतेति। यदि न ततः, कुतस्तर्हि ? अव्यक्त एवञ्जातीयकः शेषे। अस्ति तत्र परिभोजनीयं नाम बर्हिः, ततः कर्त्तव्यम् ॥३२॥ **विधृतिपवित्रयोः परिभोजनीयबर्हिषा कर्त्तव्यताधिकरणम् ॥१७॥**

—:०:—

से तीन बार वा पांच बार बर्हि से वेदि को आच्छादित करे) तो जिस बर्हि से वेदि का आच्छादन किया जाता है उस से कैसे अन्य कर्म किया जाये ? यह सम्भव नहीं है कि एक ही आस्तरण के लिए होवे और विधृति तथा पवित्र के लिए भी होवें। यह उपदिष्टवचन अनेक गुणवाला होवे और दोनों असम्भव प्रतिज्ञात होवें। इस कारण [विधृति और पवित्र] उस से नहीं किये जा सकते। यदि उस (=वेदिस्तरण बर्हि) से नहीं किये जाते तो किस से किए जायें ? इस प्रकार के अव्यक्त (=जो स्पष्ट नहीं हैं वह) कार्य शेष में अर्थात् जो बर्हि वेदि के स्तरण में उपयुक्त नहीं होता है उस में जानना चाहिये अर्थात् शेष बर्हि से विधृति और पवित्र संज्ञक तृण गृहीत होते हैं। वहां परिभोजनीय नाम का बर्हि है, उस से विधृति और पवित्र का निर्माण करना चाहिये।

विवरण **त्रिधातु पञ्चधातु वेदीं स्तृणीत**—यज्ञ के लिए बर्हि के लवन के सम्बन्ध में कहा है कि तीन मुट्ठी वा पांच मुट्ठी लवन करे। उस से वेदि का आच्छादन किया जाता है। यहां उक्त वचन में वेदि का स्तरण त्रिधातु अथवा पञ्चधातु करने का उल्लेख है। इस में धातु पद विचारणीय है। कात्यायन श्रौत २।७।१९ में **त्रिवृत्** वेदि का स्तरण कहा है। अगले २०वें सूत्र में त्रिवृत् से अधिक जितने बार स्तरण आवश्यक हो उतनी बार स्तरण का विधान किया है। १९वें सूत्र की व्याख्या में विद्याधर मिश्र ने लिखा है—**उर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि** इस मन्त्र की आवृत्ति करते हुए त्रिवृत् =त्रिधातु प्रागग्र वेदि में बिछाये। धातु नाम तृण मुष्टि=दर्भ की मुट्ठी=गड्डी के प्रक्षेप का वाचक है।' आप० श्रौत २।९।२ सूत्रस्थ 'त्रिधातु पञ्चधातु' के विवरण में धूर्तस्वामी ने लिखा है **धातुः—परिपाटी** अर्थात् आनुपूर्वी। क्रमशः तीन बार वा पांच बार आनुपूर्वी से बर्हि का स्तरण करे। रुद्रदत्त इस सूत्र की टीका में **त्रिधातु=त्रिषन्धिः** अर्थ किया है। इस का अभिप्राय **त्रीणां सन्धिः**=तीन बार करके आच्छादित बर्हि की सन्धि। अर्थात् तीन वा पांच की सन्धि वाला। भट्ट कुमारिल ने लिखा है—**धातुरिति स्तरणचयोऽभिधीयते**। इस पर पूना संस्करण के सम्पादक ने टिप्पणी दी है—**स्तरणार्थं बर्हि मुष्टचवयवः**=वेदि के आच्छादन के लिए जो बर्हि की मुष्टि उसका अवयव। तन्त्रवार्तिक की टीका में सोमेश्वर भट्ट ने लिखा है—'धातु शब्द के स्तरणार्थ बर्हि की मुष्टि के अवयव में प्रसिद्धि न होने से कहा है—**धातुरिति स्तरणचयोऽभिधीयते** (३।८।३३, पृष्ठ ८१)। कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है—त्रिधातु तीन बार अनुक्रम से

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—बर्हिषा वेदिस्तृणाति बहुलमनतिदृश्यं प्रागपवर्गं प्रत्यगपवर्गं वा त्रिधातु पञ्चधातु वा॥ आप० श्रौत० २।९।२॥

काटे हुए बर्हि के तीन भाग करके तीन भागों से वेदि के पूर्व मध्य तथा पश्चिम भाग को क्रम से आच्छादित करे।' इस प्रकार त्रिधातु पञ्चधातु का तात्पर्य त्रिवृत् परिस्तरण के लिए गृह्यमाण दर्भ की तीन मुट्ठी, पञ्चवृत स्तरण के लिये गृह्यमाण दर्भ की पांच मुट्ठी से है। श्रुत वचन में त्रिधातु पञ्चधातु शब्द क्रियाविशेषण है। अत: इस वाक्य में 'त्रिवृत् पञ्चवृत् वा वेदि का स्तरण करे' यही अर्थ उपयुक्त है।

वेदि के स्तरण का प्रकार—बर्हि के बन्धन को खोलकर जितना बर्हि है, उसका तीसरा भाग लेकर आहवनीय के पश्चिम भाग में दक्षिण अंश से उत्तर अंश की ओर कुशा बिछावे। इस में कुशा का अग्रभाग पूर्व में होवे, काटा हुआ मूल भाग पश्चिम में। तदनन्तर बर्हि के द्वितीय भाग से पूर्ववत् स्तरण करे। इस में यह ध्यान रखा जाय कि पूर्व बिछाये दर्भों के मूलभाग (जड़ की ओर के भाग) पर द्वितीय बार बिछाये जा रहे दर्भों का अग्रभाग रखा जाये, जिससे मूल ढक जाए। इसी प्रकार तृतीय भाग से तीसरी बार स्तरण करे। यह त्रिवृत् स्तरण कहाता है। दर्भों के स्तरण से वेदि पूरी तरह ढक जानी चाहिये। यदि दर्भ तृण छोटे हों तो पांच बार वा सात बार भी स्तरण किया जा सकता है। यह स्तरण प्रकार **पश्चादपवर्ग** (=पश्चिम में निवृत्ति) कहाता है। पक्षान्तर में **प्रागपवर्ग** भी वेदि का स्तरण होता है। इस में पूर्ववत् पश्चिम दिशा से स्तरण आरम्भ करके पूर्व में उसकी समाप्ति होती है। प्रागपवर्ग स्तरण में पश्चिम में प्रथम कुश मुष्टि के मूल भाग को और पूर्व की ओर अग्रभाग को रखे। तदनन्तर द्वितीय मुष्टि से आच्छादन करते समय प्रथममुष्टी के दर्भों के अग्रभाग को किसी पतले काष्ठ से ऊपर उठाकर उस के नीचे द्वितीय मुष्टि के दर्भों के मूल भाग को रखे। तृतीय मुष्टि के स्तरण के समय द्वितीय मुष्टि के अग्रभाग को पूर्ववत् ऊपर उठाकर नीचे तृतीय मुष्टि के दर्भों के मूल को रखे। पांच वार वा सात वार स्तरण करने में भी उपर्युक्त विधि ही जाननी चाहिये। आपस्तम्ब परिभाषासूत्र (२।१५) में उदगपवर्ग (=दक्षिण से स्तरण करते हुए उत्तर में समाप्ति) पक्ष भी लिखा है।

येनास्तीर्यते कथं तद् विधृतिपवित्रं क्रियेत—वेदि स्तरण के लिए तीन मुष्टि का है। पांच मुट्ठी जो बर्हि लाई गई है उस समग्र बर्हि का **त्रिधातु पञ्च वेदिं स्तृणाति** वचन से वेदि के स्तरण में विनियोग होने से उस से विधृति और पवित्र कैसे गृहीत हो सकते हैं। **विधृतिपवित्रम्**—यहां समाहार द्वन्द्व और उस से एकवचन है ऐसा जानना चाहिये। **उपदिष्ट वचनमनेक गुणत्वं** अर्थं अनेक गुणत्व=आस्तरण विधृति और पवित्र करण। **परिभोजनीयम्**—द्र० बौधायन श्रौत १।२—**तूष्णीं परिभोजनीयानि लुनोति। परित: सर्वत: भोजनीयं व्यवहरणीयं व्यवहर्तुं योग्यम्**=सर्वत्र व्यवहार के योग्य बर्हि।

—:०:—

[प्राकृतपुरोडाशादीनां निधानाधिकरणम् ॥१८॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधाति, धाना आश्विनपात्रे, पयस्यां मैत्रावरुणपात्रे**[1] इति। तत्र संशयः—किमन्यत एवं क्रियेत, उत प्रकृतेभ्य इति? किं प्राप्तम्? पूर्वेण न्यायेनाऽन्यत इति। तत्रोच्यते—

अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ॥३३॥ (उ०)

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में सुना जाता है**—पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधाति, धाना आश्विनपात्रे, पयस्यां मैत्रावरुणपात्रे (=**पुरोडाश के भाग=टुकड़े का ऐन्द्रवायव के पात्र में रखता है, धाना=खीलों को आश्विन पात्र में, और पयस्या=खीर को मैत्रावरुण पात्र में**)। **इस में संशय होता है—क्या [पुरोडाश शकल आदि का विधान] अन्य से किया जाये अथवा प्रकृत जो पुरोडाशादि हैं उन से? क्या प्राप्त होता है? पूर्व न्याय से अन्य से करना चाहिये। इस विषय में कहते हैं—**

विवरण—पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य—यह कर्म ज्योतिष्टोम के माध्यन्दिन सवन में पशु पुरोडाश से याग होने के पश्चात् ऐन्द्रवायव आदि ग्रहस्थ सोम के होम से अवशिष्ट सोम भक्षण के अनन्तर विहित है। **प्रकृतेभ्यः**—ज्योतिष्टोम में सवनीय पशु है। उस की वपा से प्रातः सवन में, पशुदेवताक पुरोडाश से माध्यन्दिन सवन में और पशु के अङ्गों से तृतीय सवन में कार्य कहा है—**वपया प्रातः सवने प्रचरन्ति पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने अङ्गैस्तृतीय सवने** (मै० सं० ३।६।५)। इस प्रकार ज्योतिष्टोम के माध्यन्दिन सवन में पशु पुरोडाश है। उस का यहां निर्देश है।

अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द यहां उत्सूत्र स्थापित पूर्वपक्ष 'अन्य से करना चाहिये' का व्यावर्तक है—**अन्य से नहीं करना चाहिये**। (एकदेशस्य) विद्यमान पुरोडाशादि के एक देश=उपयुक्त द्रव्य के भाग का (अपनयः) पुरोडाश शकल आदि के भाग का अपनय स्वस्थान से हटाना कहा है। (विद्यमानसंयोगात्) विद्यमान यागादि में उपयोग के पश्चात् अवशिष्ट पुरोडाश शकल आदि के साथ द्वितीया विभक्ति का संयोग होने से। द्वितीया विभक्ति का संयोग होने से विद्यमान वस्तु का ही संस्कार्यत्व जाना जाता है। जैसे **पवित्रेणाज्यमुत्पुनाति** में विद्यमान आज्य का उत्पवन संस्कार कहा है। अन्य पुरोडाश आदि को उत्पन्न करके ऐन्द्र वायवादि पात्र में निधान से उस को संस्कृत करना व्यर्थ होता है क्योंकि उस संस्कृत पुरोडाशादि का अन्यत्र उपयोग नहीं है।

---

१. आप० श्रौत० १२।२५।६ सूत्रे केवलं 'निदधाति' स्थाने 'अवदधाति' पाठभेदः। कात्या० श्रौत ६।११।२३—पुरोडाशमात्रामैन्द्रवायवे प्रास्यति, पयस्यां मैत्रावरुणे, आश्विने धानाः।

तत एकदेशस्यापनयः। कुतः? विद्यमानसंयोगात्। विद्यते हि तत्र पुरोडाशो धानाः पयस्या च। तत्संयोग एव न्याय्यो नान्यसंयोग इति। पुरोडाशादीनामेव संस्कारो नैन्द्रवायवादीनाम्। कुतः? पुरोडाशादिषु द्वितीयादर्शनात्। प्रत्यक्षश्चैकदेशापनयेन उपकारो, नैन्द्रवायवादिसम्बन्धेन। एवं प्रकृतानुग्रहो भविष्यति। तस्मात् प्रकृतस्योपदेशेन तत् क्रियेत। न चात्रोपदिष्टोपदेश आशङ्क्योऽनेकगुणभावश्चान्येन शकलेन होमोऽन्यश्च प्रतिपाद्यते इति ॥३३॥ प्राकृतपुरोडाशादीनां निधानाधिकरणम् ॥१८॥

—:०:—

[काम्येष्टिषूपांशुत्वधर्मस्य प्रधानार्थताधिकरणम् ॥१९॥

इदमामनन्ति—यज्ञाथर्वणं वै काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्त्तव्या[1] इति। अत्र संशयः—

व्याख्या—उस (=विद्यमान पुरोडाश आदि) से एकदेश का अपनय होता है। किस हेतु से? विद्यमान के साथ [द्वितीया का] संयोग होने से। वहां (=उस प्रकरण में) पुरोडाश धाना और पयस्या विद्यमान हैं। उन विद्यमानों का संयोग ही न्याय्य हैं, अन्य संयोग न्याय्य नहीं है। [पुरोडाश आदि के ऐन्द्रवायव आदि पात्रों में निधान से] पुरोडाश आदि का ही संस्कार होता है ऐन्द्रवायव आदि पात्रों का संस्कार नहीं होता। किस हेतु? पुरोडाश आदि में द्वितीया विभक्ति के दर्शन से। एकदेश के अपनय से उपकार प्रत्यक्ष है, ऐन्द्रवायव आदि पात्रों के साथ सम्बन्ध से उपकार प्रत्यक्ष नहीं है। इस प्रकार प्रकृत (=विद्यमान पुरोडाश आदि) का अनुग्रह होगा। इस लिये प्रकृत के उपदेश (=निर्देश) से वह (=पात्रान्तर-निधान) किया जाता है। और यहां उपदिष्ट (=पूर्व अधिकरण में कथित अन्य बर्हि से विधृति और पवित्र का करना) का उपदेश तथा अनेक गुण भाव की आशंका नहीं करनी चाहिये। पुरोडाश के अन्य शकल से होम होता है और अन्य शकल का प्रतिपादन होता है।

विवरण—**एकदेशस्यापनयः**—आपस्तम्ब श्रौत १२।६।२५ से यह स्पष्ट नहीं होता है कि कि होम के पश्चात् अवशिष्ट पुरोडाश के कितने भाग का अपनय किया जाता है। कात्या० श्रौत ६।११।२३ के अनुसार पुरोडाशमात्रा अर्थात् सूक्ष्मखण्ड=छोटे से भाग का अपनय होता है। **प्रत्यक्षश्चैकदेशापनयेनोपकारः**—पुरोडाशादि से याग के पश्चात् जो अवशिष्ट बचा हुआ है उस का ऐन्द्रवायवादि पात्र में अपनयरूप प्रतिपत्तिकर्म से पुरोडाशादि के पात्रों का रिक्तीकरण (=खाली हो जाना) दृष्ट उपकारक है (द्र० कुतुहलवृत्ति)। **अन्यश्च प्रतिपाद्यते**—होमानन्तर अवशिष्ट का ऐन्द्रवायवादि पात्र में रखनारूप प्रतिपादन (=प्रतिपत्तिकर्म) होता है ॥३३॥

—:०:—

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—यज्ञाथर्वणं वै काम्या इष्टयः ता उपांशु कर्त्तव्याः (=यतः

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

किमङ्गप्रधानार्थमुपांशुत्वम्, उत प्रधानार्थमिति ? किं प्राप्तम् ?

विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ॥३४॥ (पू०)

विकृतौ सर्वार्थः शेषः स्यात्। अविशेषादङ्गानां प्रधानानां च प्रकृतिवत्। यथा प्रकृतौ वेदिधर्म्मा आज्यधर्म्माश्चाङ्गप्रधानार्थाः, एवमत्रापि ॥३४॥

मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ॥३५॥ (उ०)

प्रधानार्थो वा एष विकृतिषु स्यात्। एवमिदं सर्वार्थमुच्येत, प्रकरणं बाधित्वा

अथर्ववेद सम्बन्धी यज्ञ काम्य इष्टियां है, उन्हें उपांशु करना चाहिये)। इसमें संशय होता है—क्या अङ्ग प्रधान सभी के लिए उपांशुत्व है अथवा प्रधान के लिए ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—यज्ञाथर्वणं काम्या इष्टयः—'यज्ञाथर्वण' की व्युत्पत्ति कुतुहलवृत्तिकार ने इस प्रकार की है—[अथर्वणि विहिताः=] आथर्वणा रहस्या यज्ञाः=आथर्वणयज्ञा इति कर्मधारयः=यहां आथर्वण और यज्ञ का कर्मधारय समास है। यज्ञ शब्द का पूर्व निपात, लिङ्ग और वचन का व्यत्यय छान्दस है। 'वै' शब्द हेतु में है।

विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(विकृतौ) विकृति=काम्येष्टियों में पठित (शेषः) उपांशुत्व धर्म (सर्वार्थः) अङ्ग प्रधान सब के लिये होवें। (प्रकृतिवत्) जैसे प्रकृति में आज्यधर्म वेदिधर्म सर्वार्थ हैं वैसे ही उपांशुत्व धर्म भी सर्वार्थ होवे।

विशेष—विकृतौ—यह जाति में एकवचन है। **प्रकृतिवत्**—यहां सप्तम्यन्त से वति प्रत्यय है—**प्रकृतौ इव=प्रकृतिवत्**।

व्याख्या—विकृति में पठित शेष (=उपांशुत्व धर्म) सर्वार्थ (=अङ्ग प्रधानार्थ) होवे, और प्रधानों के अविशेष होने से प्रकृतिवत्। जैसे प्रकृति में वेदि के धर्म और अङ्गों आज्य के धर्म अङ्ग और प्रधान के लिए हैं, उसी प्रकार यहां भी होवें ॥३४॥

मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'अङ्ग और प्रधान सब के धर्म होवें' पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। विकृति में कहा उपांशुत्व धर्म (मुख्यार्थः) मुख्य=प्रधान के लिये होवे। (अङ्गस्य) अङ्ग के (अचोदितत्वात्) विहित (=कथित) न होने से।

विशेष—भाष्यकार के मत में 'वा' शब्द एवार्थक है।

व्याख्या—प्रधान के लिए ही यह उपांशुत्व विकृतियों में होवें। सर्वार्थ इस प्रकार कहा

वाक्येनाङ्गप्रधानार्थमिति। तदेवेदानीं वाक्यं विशेषितं काम्या इष्टय इति। काम्याश्च प्रधानयागाः, अङ्गयागाः प्रधानार्थाः। तस्माद् अङ्गमचोदितम्। यत् कामेन फलवच्चोद्यते, तदेवानया उपांशुत्वेतिकर्त्तव्यतयाऽनुबद्धयते। तस्मात् प्रधानार्थमुपांशुत्वम् ॥३५॥
काम्येष्टिषूपांशुत्वधर्मस्य प्रधानार्थताऽधिकरणम् ॥१९॥

—:o:—

[श्येनाङ्गानां नवनीताऽऽज्यताधिकरणम् ॥२०॥

श्येने श्रूयते—**दृतिनवनीतमाज्यम्**[1] इति। तत्र सन्देहः—किं नवनीतं प्रधानस्य, उताङ्गानामिति ? किं प्राप्तम् ? प्रधानस्य। **तस्य हि प्रकरणम्**[2] इति वचनप्रामाण्यान्नवनीतेन प्रधानं निर्वर्त्तयितव्यमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम् ॥३६॥ (उ०)

जा सकता है—प्रकरण को बाधकर वाक्य से अङ्गप्रधानार्थ होवे। वह वाक्य ही यहां विशेषित (=विशेष निष्ठ) है काम्या इष्टयः इस वचन से। काम्य प्रधानयाग हैं। अङ्गयाग प्रधानार्थ हैं। इस कारण अङ्ग विहित नहीं हैं। जिस कामना से फलवाला कर्म कहा जाता है। वही इस उपांशु इतिकर्त्तव्यता से सम्बद्ध होता है। इसलिये उपांशुत्व धर्म प्रधान के लिए है ॥३५॥

—:o:—

व्याख्या—श्येन याग में सुना जाता है -दृतिनवनीतमाज्यम् (=दृति=चमड़े के पात्र में रखा हुआ नवनीत आज्य होता है)। इस में सन्देह होता है—क्या नवनीत (=मक्खन) प्रधान का है अथवा अङ्गों का ? क्या प्राप्त होता है ? प्रधान का है। 'उसी (=प्रधान) का ही प्रकरण है' इस वचनप्रामाण्य से नवनीत से प्रधान कर्म को सिद्ध करना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

सन्निधानविशेषाद असम्भवे तदङ्गानाम् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(सन्निधानविशेषात्) श्येन के प्रधान कर्म में चोदक=अतिदेशविधायक वचन की सन्निधि विशेष से सोमरूप द्रव्य के होने से अर्थात् श्येन के प्रधान कर्म में अतिदेश से सोम द्रव्य के प्राप्त होने से (असम्भवे) प्रधान में नवनीत रूप आज्य का सम्भव न होने पर (तदङ्गानाम्) श्येन के अङ्गरूप दीक्षणीयेष्टि आदि का नवनीतरूप आज्य होता है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। अत्र 'दृतिं वा विनाडं वा रथ आधाय परिहरेत्, यत्तत्र नवनीतमुत्सीदेत् तदाज्यं स्यादिति। बौधा० श्रौत २२।१७। भाग ३, पृष्ठ १४१, पं० १३-१५॥

२. द्र०—प्रधानानां हि प्रकरणम्। मी० भा० ३।७।१; पृष्ठ १०४६॥

असम्भवे एतस्मिंस्तदङ्गानां श्येनाङ्गानां स्यात्। कथमसम्भवः? सोमद्रव्यकत्वात् प्रधानस्य। ननु वचनान्नवनीतं भविष्यति। न श्येने नवनीतं भवतीत्येष वाक्यार्थः। कस्तर्हि? श्येने नवनीतमाज्यं भवतीति नवनीताज्यसम्बन्धो विधीयते, श्येनाज्यसम्बन्धोऽनूद्यते। न च साक्षाच्छ्येनस्याज्यसम्बन्धोऽस्ति, श्येनाङ्गानां तु विद्यते। यस्यास्ति, तस्यानूद्य नवनीतं विधीयते सन्निधानविशेषात् ॥३६॥

आधानेऽपि तथेति चेत् ॥३७॥ (आ०)

एवं चेदं दृश्यते, श्येनाङ्गानां नवनीतमिति, आधानेऽपि पवमानेष्टिषु स्यात्। ता अपि हि श्येनस्योपकुर्वन्ति, तत्संस्कृतेऽग्नौ श्येनो निर्वर्तते इति ॥३७॥

नाप्रकरणत्वादङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३८। (आ० नि०)

व्याख्या—इस प्रधान में [नवनीत रूप आज्य के] असम्भव होने पर तदङ्ग=श्येन के अङ्गों का होवे। [प्रधान में] असम्भव कैसे है? प्रधान के सोम द्रव्य वाला होने से। (आक्षेप) वचन से नवनीत [प्रधान का] होगा? (समाधान) 'श्येन याग में नवनीत होता है, ऐसा वाक्यार्थ नहीं है। तो क्या है? 'श्येन में नवनीत आज्य होता है'। इस से नवनीत और आज्य के सम्बन्ध का विधान किया जाता है, और श्येन तथा आज्य का सम्बन्ध अनूदित होता है [अर्थात् श्येनाज्य सम्बन्ध का अनुवाद करके श्येन में नवनीत और आज्य के सम्बन्ध का विधान किया जाता है]। श्येन याग का साक्षात् आज्य के साथ सम्बन्ध नहीं है, श्येन के अङ्गों का तो है। जिस का सम्बन्ध है उसका अनुकथन करके नवनीत का विधान किया है। [चोदक वचन रूप] सन्निधान (=सान्निध्य) के विशेष होने से अर्थात् प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या इस चोदक वचन की सन्निधि से श्येन के प्रधान कर्म में सोम द्रव्य के होने से ॥३६॥

आधानेऽपि तथेति चेत् ॥३७॥

सूत्रार्थः—[श्येन के प्रधान में नवनीत आज्य के सम्भव न होने से उस के अङ्गों में होता है। ऐसा मानने पर] (आधाने) आधान कर्मान्तर्गत पवमानादि इष्टियों में भी (तथा) उसी प्रकार नवनीत आज्य होवे (इति चेत्) ऐसा कहा जाये तो।

व्याख्या—श्येन के अङ्गों में नवनीत रूप आज्य होता है ऐसा यदि देखा जाये तो आधान में भी पवमान आदि इष्टियों में नवनीत आज्य होवे। वे (=पवमनादि इष्टियां) भी श्येन का उपकार करती हैं। पवमानेष्टियों से संस्कृत अग्नि में श्येनयाग होता है ॥३७॥

नाप्रकरणत्वादङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३८॥

सूत्रार्थः—(न) आधानस्थ पवमानादि इष्टियों में नवनीत आज्य नहीं होता है। (अप्रकरणत्वात्) आधान का प्रकरण न होने से अर्थात् श्येन के प्रकरण में आधान के न होने से।

न श्येनस्य प्रकरणे पवमानेष्टयोऽग्न्याधानं वा श्रूयते। किमतो यद्येवम्? आधानस्य च श्येनस्य च न कश्चिदस्ति सम्बन्धः, अग्नीनामाधानम् अग्नयश्च श्येनस्य। तस्मान्न पवमानहविःषु नवनीतम्। नैतच्छ्येनाङ्गत्वे निमित्तं, यदाधानमग्नीनामुपकरोति। यदि प्रकरणादीनामन्यतमदस्ति, तन्निमित्तं भवेत्। तस्मान्न श्येनाग्न्याधानयोः सम्बन्धोऽस्तीति ॥३८॥ श्येनाङ्गानां नवनीताऽऽज्यताधिकरणम् ॥२०॥

—:०:—

[सर्वेषामेव श्येनाङ्गानां नवनीताऽऽज्यताधिकरणम् ॥२१॥]

इदमिदानीं सन्दिह्यते—किं सुत्याकालानामङ्गानां नवनीतमुत सर्वेषामिति?

तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ॥ ३९ ॥

(अङ्गस्य) अङ्गत्व के (तन्निमित्तत्वात्) प्रकरणादि निमित्तवाला होने से। अर्थात् कौन किसका अङ्ग है, यह प्रकरणादि से ही जाना जाता है।

विशेष – इस सूत्र में पाठ भेद मिलते हैं। **'अङ्गत्वस्य'** यह तन्त्रवार्तिक की सुधाटीका में पाठ है। **'अतन्निमित्तत्वात्'** यह भाष्य के अतिरिक्त सब ग्रन्थों में पाठ है। इस पाठ में अर्थ होगा—आधानस्थ पवमानादि इष्टियों के अङ्गभूत् आज्य के तन्निमित्त=श्येन याग निमित्त न होने से।

व्याख्या— श्येन के प्रकरण में पवमानादि इष्टियां अथवा अग्न्याधान नहीं सुना जाता है। इस से क्या यदि ऐसा है तो? आधान और श्येनयाग का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है-अग्नियों का आधान है और अग्नियां श्येन याग की हैं। इस कारण पवमान हवियों में नवनीत नहीं होता है। यह आधान श्येन के अङ्गत्व में निमित्त नहीं है यतः आधान अग्नियों का उपकार करता है। यदि प्रकरण आदि में से कोई अन्यतम प्रमाण होवे तो उस(=आधान) का निमित्त[श्येन याग]होवे। इसलिए श्येन याग और अग्न्याधान का सम्बन्ध नहीं है ॥३८॥

—:०:—

व्याख्या— इस समय यह सन्देह किया जाता है—क्या नवनीत सुत्या (=सोमयाग) के काल के अङ्गों का होवे अथवा सब काल के अङ्गों का?

तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ॥३९॥

सूत्रार्थः - नवनीत आज्य (तत्काले) प्रधानकाल=सुत्याकाल में जो अङ्ग है उनका (वा) ही होवे (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से। सह पशूनालभते वचन से सुत्यादिन से पूर्व आलभनीय अग्नीषोमीय पशु और अवभृथेष्टि के अनन्तर आलभनीय अनुबन्ध्या का श्येन याग में सुत्यादिन में आलभनीय सवनीय पशु के साथ आलभन कहा है। इस से जाना जाता है कि श्येन याग सम्बन्धी जो भी विशेष विधान है, वह सुत्यादिन के लिये है।

सुत्याकालानां स्यात् । लिङ्गदर्शनात् । इदं श्रूयते—सह पशूनालभते[1] इति । तत्र पुनर्वचनम्—अग्नीषोमीयस्य स्थानेऽग्नीषोमीयः पुरोडाशः, अनुबन्ध्यायाः स्थाने मैत्रावरुणी पयस्या[2] इति द्वे स्थाने शून्ये दर्शयति । तेनाऽवगम्यते श्येनस्य वचनं सुत्याकालानामङ्गानां विशेषं विदधातीति ॥३६॥

व्याख्या=सुत्याकाल के अङ्गों का नवनीत आज्य होवे लिङ्ग के दर्शन से । यह सुना जाता है—सह पशूनालभते (=सब पशुओं का एक साथ आलभन करता है) । वहां (=इस विषय में) पुनः वचन है—अग्नीषोमीयस्य स्थाने ऽग्नीषोमीयः पुरोडाशः,अनुबन्ध्यायाः स्थाने मैत्रावरुणी पयस्या (=अग्नीषोमीय पशु के स्थान में अग्नीषोमीय पुरोडाश होता है और [मैत्रावरुणी] अनुबन्ध्या के साथ में मैत्रावरुणी पयस्या) । यह वचन दो स्थानों को शून्य दिखाता है । इस से जाना जाता है कि श्येन याग का जो कुछ विशेष वचन है वह सुत्याकाल के अङ्गों का विशेष विधान करता है ।

विवरण—सह पशूनालभते—इस का विवरण सूत्रार्थ में देखें । **द्वे स्थाने शून्ये दर्शयति—**अग्नीषोमीय पशु सुत्या से पूर्व दिन विहित है उसको वहां से हटाकर सुत्यादिन में होनेवाले सवनीय पशु के साथ ले आने पर अग्नीषोमीय पशु का स्थान खाली रहता है । इसी प्रकार अवभृथेष्टि के अनन्तर अनुबन्ध्या पशु को भी सवनीय पशु के साथ ले लेने से उसका स्थान भी रिक्त होता है ।

विशेष—अनुबन्ध्या के सम्बन्ध में कात्यायन श्रौत १०।९।१३ में लिखा है—मित्रावरुण देवतावाली वशा अनुबन्ध्या गौ का आलभन करे । वशा का अर्थ है वन्ध्या, अवत्सा, जिसकी सन्तति न होवे=बांझ गौ । अनूबन्ध्या शब्द का अर्थ टीकाकार करते हैं—**यज्ञम् अनु यज्ञसमाप्तिमनु बध्यते इत्यनुबन्ध्या** अर्थात् सोमयाग की समाप्ति के अनन्तर जो मारी जाती है वह अनुबन्ध्या कहाती है । यह चिन्त्य है 'बध हिंसायाम्' धातु से बन्ध्या शब्द नहीं बनता है । इस की प्रकृति बध बन्धने धातु है । अतः शब्दार्थ होगा—यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् जिस को यूप में बांधते हैं । इसी प्रकार पशुबन्ध संज्ञक याग का जो शब्दार्थ है । वह 'पशु का बन्ध=बांधना' अर्थ को दर्शाता है । इन संज्ञाओं में वध=हिंसा=मारना रूप अर्थ का गन्ध भी नहीं है । अत: जितने भी श्रौत पशुयाग विहित है । उनमें पशु का यूप में बन्धन के पश्चात् पर्यग्निकरण संस्कार करके यज्ञीय निशान लगाकर उन्हें छोड़ दिया जाता था । इस विषय में हम श्रौतयज्ञ-मीमांसा में विस्तार से लिख चुके हैं ।

अनुबन्ध्या वशा गौ पर विचार—इस आधिदैविक जगत में जो सोमयाग हो रहा है । उसकी

---

१. आप० श्रौत० २२।३।१०—सवनीयकाले सह पशूनालभते ऽग्नीषोमीयमनुबन्ध्यां च ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अग्नीषोमीयस्य स्थानेऽग्नीषोमी एकादशकपालः, अनुबन्ध्यायाः स्थाने मैत्रावरुण्यामिक्षा । आप० श्रौत २२।३।११॥

प्रतिकृति रूप यज्ञमण्डप में सोमयाग किया जाता है। तीन मुख्य ऋतुएं हैं-- ग्रीष्म वर्षा और शरद् =शीत ऋतु शरद् के दो भाग है। पूर्व शरद्=पूर्वशीतकाल और अपर शरद् शीतकाल। ग्रीष्म ऋतु के प्रभाव से गौ=पृथिवी वशा=बन्ध्या ओषधिवनस्पति उगने के अयोग्य हो जाती है। मुख्य वर्षा काल में वर्षा पर्याप्त होती है। तदनन्तर उत्तर दोनों कालों में वर्षा क्रमश: न्यून होती है। सोमयाग का आधिदैविक सोम वर्षा का जल है जिसके अमृत, जीवन आदि अनेक वैदिक नाम हैं। इस आधिदैविक सोम=वर्षा जल का प्रतिनिधि याज्ञीय सोम है। प्रात: सवन में महाभिषव होता है उस में सोमवल्ली के आधे से अधिक भाग का अभिषव होता है। वर्षा काल में भी आकाश में ग्रावा=मेघों (निघण्टु में ग्रावा मेघनामों में पढ़ा है) के संघर्ष से शब्द करते हुए मेघरूप में बन्धे हुए सोम=जल का अभिषव करते हैं। इस ऋतु में आधिदैविक सोम का भी महाभिषव होता है। जल अधिक बरसता है। माध्यन्दिन सवन में क्षुल्लकाभिषव होता है। अवशिष्ट रखे गये थोड़े सोमवल्ली के टुकड़ों से सोम का रस निकाला जाता है। वर्षा ऋतु के पश्चात् शरद् ऋतु का जो पूर्व भाग है उस में जो वर्षा होती है वह वर्षा काल के बचे हुए मेघों से होती है और वह अल्पमात्रा में होती है। तृतीय सवन में जो अभिषव होता है वह दोनों समय में सोमवल्ली का रस निकालने के पश्चात् ऋजीष=फोक बचता है उसका अभिषव करते हैं। इसी प्रकार अपर शरद् ऋतु में दोनों ऋतुओं की वर्षा के अनन्तर जो प्राय: जल शून्य=अल्पजलवाले मेघ बचते हैं उनसे अल्प वर्षा होती है। यह है आधिदैविक सोमयाग और द्रव्यमय सोमयाग का स्वरूप।

सोमयाग का स्वरूप—आधिदैविक सोमयाग के प्रथम चरण=वर्षा काल में वर्षा होते ही बन्ध्या बनी हुई गौ[1]=पृथिवी का आलभन=स्पर्श सोम=अमृत=जीवन रूप जल से होता है और उस का वशात्व नष्ट होकर पृथिवी रूप गौ ओषधि वनस्पतियों से युक्त हो जाती है। भीषण शीत काल में भी पाले से ओषधि वनस्पतियां प्राय: नष्ट होने लगती हैं, उनकी भी वर्षा से रक्षा होती है। यह सभी कृषक जानते हैं।

मैत्रावरुणी—अब मैत्रावरुणी शब्द पर भी विचार करना उपयुक्त होगा। मित्र और वरुण मध्यमस्थानी देव है। इन का जो वर्णन वेद में मिलता है उस के अनुसार ये दोनों विपरीत दिशाओं से उठने वाली मानसून हवाएं हैं। इसीलिये यजुर्वेद २।१६ में कहा है—मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्—मित्र और वरुण तेरी वृष्टि के द्वारा रक्षा करें। मित्रावरुण वृष्टि के अधिपति है। ये मानसून हवायें जब घनी भूत हो जाती हैं तब बादल का रूप धारण कर लेती हैं। इन मित्र और वरुण रूप मेघों में जब विद्युत् का संचार होता है तब मेघ अपने स्वरूप को छोड़ कर बूंद बूंद रूप में बरसते हैं। विद्युत् ही उर्वशी है जिसके दर्शन से मित्रवरुण रूप मेघों का वीर्य=सार रूप जल टपकता है। यह जल ही चराचर प्राणी अप्राणी जगत् को जीवन प्रदान करके अतिशयेन वासयिता होने से वसिष्ठ है। इसको पुष्कर अन्तरिक्ष में विश्वदेव

१. न कश्चन रस: पर्यशिष्यत तत एषा मैत्रावरुणी वशा समभवत्। तस्मादेषा न प्रजायते। शत० ४।५।१।६॥

सूर्य किरणे वा वायु ग्रहण करने से पहले वसिष्ठ =मेघोत्पन्न जल का इन से सम्बन्ध होता है। इस आधिदैविक तत्त्व को ऋग्वेद की ऋचा इन शब्दों में दर्शाता है—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवा पुष्करे त्वाददन्त ॥ ऋ० ७।३३।११।

निरुक्त ५।१३ में यास्क ने इस का जो आधिदैविक व्याख्यान किया है, उसका सार इस प्रकार है—

हे वसिष्ठ ! तुम मैत्रावरुण मित्र और वरुण मध्यम स्थानीय देवों से उत्पन्न हो। हे ब्रह्मन् तुम उर्वशी के मन से मध्यम स्थानीय विद्युत् देवी के तेज से उत्पन्न हुए हो। दिव्य महत तेज से मित्रावरुण मेघों का जो द्रप्स =बूंद गिरा उस तुझ को अन्तरिक्ष में विश्वेदेवों ने धारण किया।

उर्वशी मध्यम स्थानीय विद्युत् है। ऋ० ७।३३।१० में कहा है—

विद्युतो ज्योतिः परि सं जिहानं मित्रावरुणौ यदपश्यतां त्वा।

विधुत् की छोड़ी जा रही ज्योति को मित्रावरुण ने देखा। हे वसिष्ठ ! वह तुम्हारा जन्म है।

इस अलङ्कार रूप से कथित वसिष्ठ=मेघीय जल की जो उत्पत्ति वैदिक ऋचाओं में दर्शाई है उसे ही पुराणों में अत्यन्त कुत्सित रूप में वर्णन किया है। उन के अनुसार पुष्कर क्षेत्र में किए जा रहे ब्रह्मा के यज्ञ में मित्र और वरुण देवों का उर्वशी के दर्शनमात्र से वीर्य स्खलित हो गया। उस को देवों ने घड़े में डाल दिया। उस से वसिष्ठ और अगस्त्य ऋषि उत्पन्न हुए।

यद्यपि यास्क ने भी तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयोरतश्चस्कन्द शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु इस से पूर्व उर्वशी का जो निर्वचन लिखा है, वह यास्क के शब्दो में अप्सारिणि जल में गति करने वाली=विद्युत् का है। और जो यहां मन्त्र उद्धृत किया हैं, उस को हम पूर्व लिख चुके है। अतः यास्क के उक्त शब्द आधिदैविक जगत् की घटकना के बोधक हैं, न कि लौकिक वसिष्ठ ऋषि की उत्पत्ति के। आश्चर्य इस बात का है कि वेद अपौरुषेय और नित्य मानने वाले सायण आदि भाष्यकारों ने वेद में लौकिक और वह भी बीभत्स प्रकार की घटनाओं का कैसे वर्णन किया है ? हमारे विचार में इस का एकमात्र कारण तथाकथित पुराणों का विशेष प्रभाव है। पुराणों के अनुसार वेद के अर्थ करना वैसा ही है, जैसे घोड़े वा बैल से आगे रथ या गाड़ी को जोतना।

अनुबन्ध्यायाः स्थाने मैत्रावरुणी पयस्या—यह सामान्य नियम है कि जहां जिस जिस पशु का आलभन कहा है, वहां सर्वत्र पुंपशु के स्थान में पुरोडाश का विधान है। पुंपशु साक्षात् वा परम्परापा से अन्नादि की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। अथवा उन के स्थान में सामान्य

यज्ञीय द्रव्य घृत की आहुतियां दी जाती हैं। किन्तु स्त्री पशु के स्थान में प्राय: पयस्या का विधान मिलता है। पौराणिक विद्वान् तथा कथित पाराशर स्मृति के अनुसार कलियुग में गवालम्भ (= गौ को मारने) का प्रतिषेध मानते हैं। अतः वे सर्वत्र गौ के स्थान में पयस्या से होम करते हैं। परन्तु जहां भी स्त्री पशु के आलभन का उल्लेख है, वहां वशा=बन्ध्या पशु का ही है। वशा गौ सन्तान रहित होने से दुग्ध रहित होती है। अतः उस की स्थानापन्न हवि पयस्या नहीं हो सकती। जैसे हमने ऊपर अनुबन्ध्या वशा गौ की व्याख्या की है तदनुसार सोमादि यज्ञों के द्वारा वशा गौ=सूर्य ताप से उत्तप्त बन्ध्या पृथिवी के आलभन से उसके वशात्व दोष का निराकरण होने से तत्स्थानापन्न गौ के स्थान में पयस्या हवि का निर्देश युक्ततर होता है। यास्क ने वेदार्थ विषयक एक नियम लिखा है—अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति (२।५) गौ के विषय में वेद में ताद्धित अर्थ से युक्त के समान प्रयोग होते हैं। इस का तात्पर्य यह है कि तद्धित प्रत्यय से रहित प्रातिपदिक मात्र का प्रयोग होने पर तद्धितार्थ जाना जाता है। इस के यास्क ने कई उदाहरण दिये हैं और गौ शब्द का दूध, चर्म, स्नायु, श्लेष्मा=सरेस, ज्या आदि अर्थ दर्शाये हैं। यास्क के वेदार्थ के इस नियम को स्वीकार कर लेने पर यज्ञ में पशु हिंसा स्वयं समाप्त हो जाती है।

यदि यह कहो कि पशु के स्थान में पुरोडाश घृत और पयस्या हवि को स्वीकार करने पर छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि आदि प्रयोग कैसे संगत होंगे? इस के लिए हम इन पौराणिक याज्ञिकों से ही पूछते हैं कि कलि में गवालम्भन के निषेध होने पर गो के स्थान में पयस्या होम मानने पर ऊह से गोर्हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि मन्त्र प्रयुक्त होता है, उस के वपायाः मेदसः पदों को वे जैसे अन्वित करते हैं, वैसे ही सर्वत्र पशुस्थानीय पुरोडाश में भी अन्वित होंगे।

एक अन्यवाद—'यः कल्पः स कल्पपूर्वः'—वेद को नित्य मानते हुए ऐतिहासिक व्याख्या करने हारे विद्वानों ने एक वाद प्रचलित किया है—यः कल्पः स कल्पपूर्वः=जो यह सृष्टि का स्वरूप है, इस में जो जो घटनाएं जिस जिस काल में हुईं वैसी ही घटना उस उस काल में पूर्व सृष्टि में हुई थीं। अतः वेदोक्त इतिहास के प्रवाह से नित्य होने से वेद की नित्यता में कोई दोष नहीं आता। यह सत्य है कि यः कल्पः स कल्पपूर्वः वाद सत्य है। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् (ऋ० १०।१९०।३) मन्त्र पर आधृत है। परन्तु इस मन्त्र में सृष्टि के त्रिविध लोकों का सूर्य=स्वतः प्रकाशक लोक, चन्द्र=सूर्य से प्रकाश ग्रहण करके प्रकाश करने हारे उपग्रह और पृथिवी=विस्तृत लोक जो स्वयं प्रकाशक नहीं है, का उल्लेख किया है और इन की रचना को यथापूर्व पूर्वकल्पानुसारी कहा है।

यहां यह विचारणीय है कि इस कल्प में हुई, हो रही और होने वाली मनुष्य संबन्धी ऐतिहासिक घटनाएं पूर्वकल्प में भी हुई थीं, उस से पूर्व में, और आगे भी उत्तरोतर कल्पों में इसी प्रकार होंगी तो वेदादि सकल सत्य शास्त्रों का भोगापवर्गार्थं दृश्यम् (योग० २।१८) = 'सारा जगत् जीवों के भोग के लिए और अपवर्ग की प्राप्ति के लिए है' का अपवर्ग का सिद्धान्त

सर्वेषां वाऽविशेषात् ॥४०॥

सर्वेषामेव चाङ्गानां नवनीतं स्यात्। कुतः ? अविशेषात्। असति विशेषे सर्वेषामप्यङ्गानामिति ॥४०॥

न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम् ॥ ४१ ॥

ही नष्ट हो जाएगा। किसी भी प्राणी को कभी भी अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होगी। अनन्त काल तक यथापूर्व की चक्की में पिसता रहेगा, प्रतिकल्प उसे अपनी पूर्वकल्पानुसारी भूमिका पूर्ण करनी ही होगी ? यदि यह कहा जाये कि अन्य अन्य जीव यथापूर्व घटनाओं के अभिनेता होते हैं। जो आत्मा अपवर्ग को प्राप्त हो गई उस का अभिनय अन्य आत्माएं करती हैं तो यथापूर्व वाद एक देश में संकुचित हो गया। वस्तुतः इस यथापूर्व वाद से मानुष ऐतिहासिक घटनाओं को प्रवाह से नित्य कहना अर्थात् पहले अपने अज्ञान से वेद में इतिहास मान लेना, फिर अनित्यत्व दोष आने पर उस को यः कल्पः स कल्पपूर्वः के अनुसार यथापूर्वत्व की कल्पना करना वैसा ही है जैसा एक असत्य कथन को छिपाने के लिए दूसरा झूठ बोलना। वस्तुतः यः कल्पः स कल्पपूर्वः अथवा यथापूर्व वाद भौतिक सृष्टि के लिए है। यह वाद सृष्टि की प्रवाह नित्यता का बोध कराता है ॥३९॥

—:o:—

सर्वेषां वाऽविशेषात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(सर्वेषाम्) सब अङ्गों का (वा) ही नवनीत आज्य होवे, (**अविशेषात्**) विशेष अङ्ग का निर्देश न होने से।

व्याख्या **सभी अङ्गों का नवनीत आज्य होवे। किस हेतु से ? विशेष का निर्देश न होने पर सभी अङ्गों का जानना चाहिये।**

विवरण—अविशेषात् का तात्पर्य है कि जब तक किसी विषय में विशेष का निर्देश न होवे तब तक सामान्यतः प्राप्त कार्य का बाध नहीं होता है। **सह पशून् आलभते** वचन से अग्नीषोमीय पशु स्थानापन्न पुरोडाश और अनुबन्ध्या स्थानापन्न पयस्या की स्वस्थान से निवृत्ति होकर सवनीय पशु के याग से सुत्याकाल प्राप्त होता है। इस प्रकार **दृतिनवनीतमाज्यं भवति** के विषय में कोई वचन नहीं है जिससे इसे सुत्याकालिक अङ्गों तक ही सीमित किया जाये। अतः नवनीत श्येन के सभी अङ्गयागों में आज्यस्थानीय होता है ॥४०॥

न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(न्यायोक्ते) न्यायानुसार उक्त अर्थ में (लिङ्गदर्शनम्) लिङ्ग का दर्शन जानना चाहिये [यहां 'लिङ्गदर्शनम्' से पूर्वपक्षोक्त लिङ्गदर्शन अभिप्रेत है।]

यदुक्तं लिङ्गं, तत्परिहरणीयम् ? नास्ति तावत् प्रमाणं यच्छ्येनस्य वचनं सुत्याकालानामङ्गानामिति। किन्तु[1] दर्शनम्। तदप्रमाणमूलत्वान्मिथ्यादर्शनं मृगतृष्णावत्। कथं तु मध्ये पशूनामालम्भ इति ? न्यायात्। को न्यायः ? क्रमानुग्रहः। एवं वचनवर्जितः क्रमोऽनुगृहीतो भवतीति। तस्मात् सर्वेषामङ्गानां नवनीतमिति ॥४१॥ **सर्वेषामेव श्येनाङ्गानां नवनीताज्यताधिकरणम् ॥२१॥**

—:o:—

व्याख्या—(आक्षेप) जो लिङ्ग कहा है, उस का परिहार करना चाहिये। (समाधान) कोई प्रमाण नहीं है जो श्येन के [नवनीत आज्य] वचन को सुत्याकाल के अङ्गों का प्रतिपादन करे। जो दर्शन कहा है ? वह दर्शन अप्रमाण मूलक (=प्रमाण रहित) होने से मिथ्या दर्शन है मृगतृष्णा के समान। तो [सुत्यादिन के] मध्य में पशुओं का आलम्भन कैसे होगा ? न्याय से। न्याय क्या है ? क्रम का अनुग्रह। इस प्रकार वचन से रहित क्रम अनुगृहीत होता है। इस लिये श्येन के सब अङ्गों का नवनीत आज्य होता है।

विवरण—किन्तु दर्शनम्—हमारे विचार में यहां '**किन्नु दर्शनम्**' पाठ होना चाहिये तभी उत्तर वाक्य के साथ समन्वय होता है। **कथं नु मध्ये**—पूर्वपक्षी ने **सह पशून् आलभते** दर्शन से सुत्याकाल में सब पशुओं का आलम्भन माना था। सिद्धान्ती पूर्वपक्षोक्त दर्शन से सभी पशुओं के सह आलम्भन को स्वीकार करते हुए भी सुत्याकाल में सहालम्भनरूप दर्शन को स्वीकार नहीं करता है। अतः पूर्वपक्षी पूछता है—'मध्य में पशुओं का आलम्भन कैसे होगा ? **क्रमानुग्रहः**—इस का तात्पर्य यह है कि पशुओं का जो सहालम्भन कहा है वह तीन प्रकार से हो सकता है—(१) अग्नीषोमीय पशु के काल (=सुत्यादिन से पूर्व) में, (२) सवनीय पशु के काल (=सुत्यादिन) में, (३) अनुबन्ध्या काल (अवभृथेष्टि के अनन्तर) में। विशेष वचन के अभाव में **गुणप्रधानयोः प्रधानं मुख्यम्** न्याय से प्रधान सुत्याकाल में होनेवाले सवनीय पशु के समय तीनों का सहालम्भन होगा। इस से क्रम=अग्नीषोमीय सवनीय और अनुबन्ध्या के आलम्भन का जो क्रम प्रकृति में है वह अनुग्रहीत होता है। इस सूत्र और भाष्य का तात्पर्य है—सह पशून् आलभते यह सहालम्भन मात्र कहता है सुत्याकाल में सहालम्भन होता है, यह नहीं जाना जाता है। सुत्याकाल में सहालम्भन क्रमानुग्रह न्याय से विदित होता है। अतः जैसे सहालम्भन विधायक वाक्य सुत्याकाल में आलम्भन का बोधक नहीं है वैसे ही **दृतिनवनीतमाज्यं भवति** वचन के विषय में भी जानना चाहिये ॥४१॥

---

१. अत्र 'किन्नु दर्शनम् ?' पाठो युक्तः प्रतिभाति।

शाक्यानामयनं षट्त्रिंशत्संवत्सरम्[1]। तत्रेदं समामनन्ति—**संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र यान् मृगान् हन्ति, तेषां तरसाः पुरोडाशाः सवनीया भवन्ति**[2] इति। तत्र सन्देहः—किं सवनीयानामन्येषाञ्च सम्भवतां पुरोडाशानां स्थाने तरसा, उत सवनीयानामेवेति? किं प्राप्तम्? सर्वपुरोडाशानां मांसमयता स्यात्। न शक्यते पुरोडाशानां च मांसमयता विधातुम्। सवनीयशब्देन च पुरोडाशान् विशेषयितुम्। भिद्येत हि तथा वाक्यम्। तस्मात् सर्वपुरोडशानां मांसमयतेति। इति प्राप्ते उच्यते—

मांसन्तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ॥४२॥

व्याख्या—'**शाक्यानामयन' संज्ञक छत्तीस वर्ष साध्य सत्र है। उसमें यह पढ़ते हैं**—संस्थिते संस्थिते ऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र यान् मृगान् हन्ति, तेषां तरसाः पुरोडाशाः सवनीया भवन्ति (=**प्रति दिन कर्म समाप्त होने पर गृहपति आखेट के लिये जाता है। वह आखेट में जिन मृगों को मारता है उनके मांसमय सवनीय पुरोडाश होते हैं)। इस में सन्देह है कि सवनीय पुरोडाशों और अन्य सम्भव पुरोडाशों के स्थान में तरसों का विधान है अथवा सवनीयों का ही? क्या प्राप्त होता है? सब पुरोडाशों की मांसमयता होवे। पुरोडाशों की मांसमयता का विधान और सवनीय शब्द से पुरोडाश को विशेषित नहीं कर सकते। इस प्रकार वाक्य भेद होता है। इस कारण सब पुरोडाशों की मांसमयता होती है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**—

विवरण—शाक्यानामयनम्—ताण्ड्य ब्रा० २५।७।२ के अनुसार इस सत्र को सर्वप्रथम गौरीवीति नाम के शाक्त (शाक्त्य) [वसिष्ठ पुत्र] शक्ति के वंशज ने किया था। इसी कारण यह कर्म **शाक्यानामयन** नाम से प्रसिद्ध हुआ। **तरसाः पुरोडाशाः**-तरस शब्द मांसवाचक है। यहां तरस=मांस का विकार=तरसमय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कात्या श्रौत० २०।५।२० में स्पष्ट ही **तरसमयाः पुरोडाशाः**—पाठ उपलब्ध होता है। इसी प्रकार भाष्य में भी सर्वत्र तरस शब्द के प्रयोग में तरसमय अर्थ जानें।

मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त 'सब पुरोडाश मांसमय होते हैं' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (मांसम्) मांसमयता (सवनीयानाम्) सवनीय पुरोडाशों की ही होवे (**चोदनाविशेषात्**) **तरसा सवनीया भवन्ति** इस चोदना (=विधायक) वाक्य विशेष से।

---

१. ताण्ड्य ब्रा० २५।७।१॥ कात्या० श्रौत २४।५।२०॥ आप० श्रौत ११॥

२. द्र०—संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति। स यान् मृगान् हन्ति तेषां तरसाः पुरोडाशाः भवन्ति॥ आप० २३।११।१२-१३॥ तथा कात्या० श्रौत २४।५।२०॥

मांसं तु सवनीयानां स्यात् । तरसाः सवनीया भवन्तीति तरससवनीयसम्बन्धो विधीयते, तरसाः पुरोडाशा भवन्ति इत्ययं त्वनूद्यते । कुत एतत् ? सर्वपुरोडाशेषु सवनीयशब्दोऽनुवादो न घटते, पुरोडाशशब्दस्तु सवनीयेष्ववकल्पते । तस्मात् पुरोडाशशब्दोऽनुवाद इति । तस्मात् सवनीयानां धानादीनां स्थाने मांसं चोदनाविशेषादिति ॥४२॥

भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत् ॥४३॥

इति चेत् पश्यसि, सवनीयेषु पुरोडाशशब्दोऽनुवादो भविष्यतीति । धानादिषु[1] पुरोडाशशब्दो न वर्त्तते । भक्तिश्चान्याय्या मुख्ये सम्भवति ॥४३॥

व्याख्या—मांस सवनीय पुरोडाशों का होवे । तरसाः सवनीया भवन्ति इस से तरस और सवनीय का संबन्ध कहा जाता है । तरसाः पुरोडाशा भवन्ति यह अनूदित होता है । यह किस हेतु से होता है ? सब पुरोडाशों में सवनीय शब्द का अनुवाद घटित नहीं होता [अर्थात् सवनीय शब्द से सब पुरोडाशों का अनुवाद सम्भव नहीं है], परन्तु पुरोडाश शब्द तो सवनीयों के कहने में समर्थ होता है । इसलिये पुरोडाश शब्द अनुवाद है । इस कारण सवनीय धाना आदि के स्थान में मांस होता है विधायक विशेष वचन से ।

विवरण— मांसं तु सवनीयानाम्—यहां जिस वचन के विषय में विचार किया है । वह 'शाक्त्यानामयन' नामक छत्तीसवर्ष साध्य सत्र संज्ञक कर्म में है । इसके विषय में हम पूर्व भाग २ पृष्ठ ३८४, ३८५ पर विस्तार से लिख चुके हैं । पाठक उसे पुनः देखें ॥४२॥

भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(असन्निधौ) व्यवहित=दूरभूत पुरोडाश पद में (भक्तिः) लक्षणा (अन्याय्या) अन्याय्या (=न्यायानुगत न) होवे ऐसा कहें तो ।

विशेष—सवनीयानि निर्वपति—धानाः करम्भः परीवापः पुरोडाशः पयस्या (कुतुहलवृत्ति में उद्धृत) वचन में सवनीय और पुरोडाश के मध्य धानाः करम्भः परीवापः व्यवधान है । इन्द्राय हरिवते धानाः, इन्द्राय पूषण्वते करम्भः, सरस्वत्यै भारत्यै परिवापम्, इन्द्राय पुरोडाशम्, मित्रावरुणाभ्यां पयस्या (आप० श्रौत० १२।४।६।। भूंजे हुए यव धान (=धाणी—मारवाणी में), सत्तु पानी आदि से संयुक्त करम्भ, भूंजे हुए व्रीहि जलादि से संयुक्त परिवाप कहाते हैं । आप० श्रौत १२।४।१०, १२, १३।।

व्याख्या—यदि ऐसा समझते हो सवनीय हवियों में पुरोडाश शब्द अनुवाद होगा तो यह ठीक नहीं । धानादि में पुरोडाश शब्द का व्यवहार नहीं है । और मुख्यार्थ के सम्भव होने पर लक्षणा मानना अन्याय्य है ।

---

१. आदिशब्देन करम्भपरीवापपुरोडाशपयस्याः हवींषि निर्दिश्यन्ते द्र०—सवनीयानि

स्यात् प्रकृतिलिङ्गत्वाद् वैराजवत् ॥४४॥

प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे धानादिष्वयं पुरोडाशशब्दो भाक्तः, सन्निहिते प्रयुक्तः[1]। इहापि भाक्त एव प्रयोक्ष्यते। अत्रापि हि सवनीयशब्देन ते सन्निहिताः। प्रकृतौ लिङ्ग-समवायाच्छब्दप्रवृत्तिर्विकृतावपि तथैव। यथा, छत्रिणो गच्छन्ति, ध्वजिनो गच्छन्तीति। यथा उक्थ्यो वैरूपसामा एकविंशः षोडशी वैराजसामा[2] इति प्रकृतिलिङ्गेन सामशब्देन वैरूप

विवरण—धानादिषु पुरोडाशशब्दः—धानाः आदि पांच सवनीय हवियों के विषय में सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' में देखें ॥४३॥

स्यात् प्रकृतिलिङ्गत्वाद् वैराजवत् ॥४४॥

सूत्रार्थः—धाना आदि में लक्षणा से पुरोडाश शब्द (स्यात्) होवे (प्रकृतिलिङ्गत्वात्) प्रकृति में **पुरोडाशैश्चरति** [का० श्रौ० ६।६।२] इत्यादि में धानादि पञ्च हवि के प्रत्यायन में लिङ्ग सामर्थ्य जिस का वह प्रकृतिलिङ्ग, के देखे जाने से (वैराजवत्) वैराज के समान। जैसे प्रकृति ज्योतिष्टोम में **यदि वैराजसामा सोमः स्यात्** वचन में साम शब्द लक्षणा से पृष्ठ स्तोत्र में देखा जाता है।

विशेष—इस सूत्र का तात्पर्य है कि शाक्त्यानामयन की प्रकृति ज्योतिष्टोम में भी **पुरोडाशैश्चरति** (का० श्रौ० ६।६।२) में पुरोडाश शब्द छत्री न्याय से धानादि पांच हवियों को कहता है। उसी प्रकार यहां भी **तरसमयाः सवनीयाः पुरोडाशाः भवन्ति** में पुरोडाश शब्द लक्षणा से धानादि को कहता है।

व्याख्या—**प्रकृति ज्योतिष्टोम में धानादि में यह पुरोडाश शब्द भाक्त (=लाक्षणिक) सन्निहित हवियों में प्रयुक्त है। [उसकी विकृति होने से] यहां भी भाक्त ही पुरोडाश शब्द प्रयुक्त होवे। यहां (=विकृतिभूत शाक्त्यानामयन में) भी सवनीय शब्द से सन्निहित हैं। प्रकृति में लिङ्ग (चिह्न) के समवाय (=समवेत) होने से धानादि में पुरोडाश शब्द की प्रवृत्ति होती है वैसे ही विकृति में भी होवे।** जैसे छत्रिणो गच्छन्ति, ध्वजिनो गच्छन्ति में **[समुदाय में एक के पास छत्र वा ध्वज होने से सभी छत्री वा ध्वजी कहाते हैं]। जैसे** उक्थ्यो वैरूपसामा एकविंशः (**उक्थ्य संस्था एकविंश वैरूपसाम और एकविंश स्तोत्रवाली होती है**) षोडशी वैराजसामा (**=षोडशी संस्था वैराजसामवाली होती है) में प्रकृतिलिङ्ग से सामशब्द**

निर्वपति—धानाः करम्भः परीवापः, (परिवापः पाठा०) पुरोडाशः पयस्या इति (कुतुहल वृत्तावस्मिन्नेव सूत्रे)। आप० श्रौत १२।४।६॥

१. यथा '**पुरोडाशैश्चरति**' (कात्या० श्रौत ६।६।२) इत्यत्र।

२. अनुपलब्धमूलम्।

पृष्ठो वैराजपृष्ठ इति गम्यते। एवमिहापि सवनीयानां मांसमयतेति ॥४४॥ **सवनीयानां मांसमयताऽधिकरणम्** ॥२२॥

इति श्रीशबरस्वामिविरचिते मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याऽध्यास्याऽष्टमश्चरणः ॥

॥ सम्पूर्णश्च तृतीयोऽध्यायः ॥

—:०:—

से वैरूपपृष्ठ और वैराजपृष्ठ कहा जाता है। इसी प्रकार यहां भी सवनीय धानादि सभी हवियों की मांसमयता जाननी चाहिये।

विवरण प्रकृति लिङ्गेन—प्रकृति ज्योतिष्टोम में कहा है—यदि **रथन्तरसामा सोमः स्यात्** (=यदि रथन्तरसामवाला सोम होवे)। यहां जैसे प्रकृति में साम शब्द पृष्ठस्तोत्र में प्रयुक्त है, वैसे ही उक्थ्य और षोडशी के उक्त उदाहरणों में भी जानना चाहिये ॥४४॥

इति 'अजयमेरु' (अजमेर) मण्डलान्तर्गत–विरञ्च्यावासा (विरकच्यावासा)-
ऽभिजनेन सारस्वत-कुलावतंसस्य तत्रभवतः **श्रीसूर्यरामस्य** प्रपौत्रेण
श्रीरघुनाथस्य पौत्रेण **श्रीयमुनादेवी-गौरीलालाचार्ययोः** पुत्रेण
पूर्वोत्तरमीमांसापारदृश्वनां महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुद्भाजां
श्रीचिन्नस्वामिशास्त्र्यपरनाम्नां वेङ्कटसुब्रह्मण्यशास्त्रिणाम्
अन्तेवासिना भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
वाजसनेयचरणेन माध्यन्दिनिना
युधिष्ठिर-मीमांसकेन
विरचितायां
मीमांसाशाबरभाष्यस्य आर्षमत-विमर्शिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां
तृतीयाध्यायस्याष्टमः पादः
तृतीयाध्यायश्च पूर्तिमगात् ॥

[मुनिगुणव्योमदृगब्दे २०३७ वैक्रमे श्रावणमासे शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां तिथौ
शुक्रवारे भारतस्वातन्त्र्यदिवसे (१५ अगस्त १९८०)
मीमांसाभाष्यव्याख्यायास्तृतीयाध्यायस्य लेखनंपरिसमाप्तम्]

शुभं भूयात् लेखकपाठकयोः

मीमांसा भाष्य के तीनों भागों में व्याख्यात अ० १-२-३ के सूत्रों की सूची

[**विशेष**—तीनों भागों की पृष्ठ संख्या क्रमिक होने से पृष्ठ संख्या ही दी है। भागों का उल्लेख नहीं किया है।]

मीमांसा-शाबर-भाष्य (अ० १-२-३) में उद्धृत

वैदिक वचनों की वर्णानुक्रम-सूची

[**विशेष**—मीमांसा शाबर-भाष्य में उद्धृत वैदिक वचनों के मूल आकर स्थान का पता हमने तत्तदुद्धरणों पर नीचे टिप्पणी में दे दिया है। अनुपलब्धमूल वचनों के समानार्थक वचन यदि हमें उपलब्ध हुए हैं, तो उनका निर्देश भी यथास्थान कर दिया है। इसी कारण हमने इस सूची में मूलस्थान का निर्देश नहीं किया है। जिस वचन के मूलस्थान को जानने की इच्छा होवे उसे भाष्य में उस पृष्ठ पर निकाल कर देख लेवें]।

प्रथम भाग पृष्ठ १–३५६, दूसरा भाग पृ० ३५७–७०६, तृतीय भाग पृ० ७०७–११६७

उद्धृत वचन	अ० पाद सूत्र	पृष्ठ
अक्ताः शर्करा उपदधाति, तेजो वै घृतम्	१।४।२६	३५०
अक्षसूक्तम्	२।१।२२	३६६
अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले दुलेरिव	२।१।३२	४१०
अखण्डामकृष्णलामिष्टकां कुर्यात्	३।६।३५	१०३१
अगृह्यो न हि गृह्यते	१।१।५	५४
अग्नये जुष्टं निर्वपामि	२।१।४७	४३४
अग्नये पवमानाय	३।६।१६	१०११
अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्, अग्नये पावकायाग्नये शुचये	३।६।११	१००७
अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेत् सपत्नमभिध्रोक्ष्यन्	३।२।१६	७३८
अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेद् रुक्कामः	,,	,,
अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति	३।५।३	६४५
अग्ना३इ पत्नीवा३ः सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब	३।२।३४	७७३
अग्नाविष्णू मा वामक्रमिष मा विजिहाथां मा मा सन्ताप्तम्	३।८।२८	११४१
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः	२।१।३५	४१६
अग्निं सम्मार्ष्टि	२।१।६	३७२
,, ,,	२।१।१०	३७४
अग्निमीले	२।१।३५	४१६
अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत	३।२.१३	७३१, ७३२

१. द्र० – यदि पशुरुपाकृतः पलायेत अन्यं तद्रूपं तद्वयसमालभेत । १।३।३२; पृ० २७५ ।

उद्धृत वचन	अ० पाद सूत्र	पृष्ठ
चोदनालक्षणो धर्मः	१।३।१	२१३
” ” ”	२।१।१	३५६
छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि	२।१।२०	३६६
जरद्गवो गायति मत्तकानि	१।१।३१	६४
जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च	२।४।१	५६२
जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च । जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च	२।२।४	५६६
” ” ” ” ”	२।४।५	५६७
जाधन्या पत्नीः संयाजयन्ति	३।३।२०	८३४
जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्निनादधीत	१।३।३	२२१
जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते	२।२।९	४६१
” ” ” ”	२।२।१०	४६४
जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ, उपांशुयाजमन्तरा यजति	२।२।९	४६१
जीर्यति वा एष आहितः पशुर्यदग्निः, तदेतान्येव अग्न्याधेयस्य हवींषि संवत्सरे [संवत्सरे] निर्वपेत् । तेन वा एष न जीर्यति । तेनैनं पुनर्नवं करोति । तन्न सूक्ष्यम्	३।६।१३	१००८
जुह्वा जुहोति	३।७।३३	१०८३
ज्योतिष्टोमेन यजेत	२।२।२०	४८६
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत	२।३।१	५२३
” ” ”	३।३।१०	७९७
” ” ”	३।५।८	९६१
” ” ”	३।५।२३	९६७
” ” ”	३।६।३०	१०२५
” ” ”	३।७।१८	१०६४
” ” ”	३।८।११	१११६
तडागं खनितव्यम्	१।३।१	२१२
तण्डुलानद्य जुहुधि	२।१।१२	३७७
तण्डुलान् पिनष्टि	३।१।७	६४२

१. भाष्ये भागशो व्याख्यातः ।

उद्धृत वचन	अ० पाद सूत्र	पृष्ठ
य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति	३।३।६	७६५
य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति	,,	,,
य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति	,,	,,
य एवं विद्वान् सोमेन यजते	३।१।१३	६६६
य एवं सपत्नं भ्रातृव्यम् अर्वाति सहते	२।३।४	५५१
यजमानः संविधाय सोऽग्निहोत्राय प्रवसति	३।८।१६	११११६
यजमानः प्रस्तरः	१ ४।२३	३३४,३३६
यजमान एककपालः	,,	,,
यजमानसम्मितौदुम्बरी भवति	२·३।३३	४१४
यजमानस्य याज्या सोऽभिप्रेष्यति होतरेतद् यज	३।५।४४	६८५
यजमानो यूपः	१।४।२५	३४३
यजमानो यूपः, आदित्यो यूपः	,,	,,
यजेत स्वर्गकामो वसन्ते वसन्ते	२।२ १७	४७६
यज्ञपतिमेव तत् प्रजया पशुभिः प्रथयति	१।२ ४३	१६८
यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति	,,	१६७
यज्ञाथर्वणं वै काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्तव्याः	३ ८।३४	११५३
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः	२।१।३३	४१६
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्	१।१।२	१४
यज्ञोपवीतिना कर्तव्यम्	१।३।५	२३२
यत् तत्सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति	३।५।१०	६५२
यत्पक्षसम्मितां मिनुयात् कनीयांसं यज्ञक्रतुमुपेयात् कनीयसीं प्रजां कनीयसः पशून् कनीयोऽन्नाद्यं पापीयान् स्यात्, अथ यदि वेदिसम्मितां मिनोति	२।४।८	६०५
यत् पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते	३।५।१४	६५५
यत् परुषि दितं तद् देवानां, यदन्तरा तन्मनुष्याणां यत्समूलं तत् पितृणाम्	३।४।११	८७४
यत् पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति	२।३।१६	५७२
यत् पूर्णं तन्मनुष्याणाम् उपर्यर्धो देवानामर्धः पितृणाम्	३।३।११	८७५
यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव	१।३।२	२१७
यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवत उपशृणुयात्	३।७।४२	१०६२
यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवत उपशृणुयात् तदाध्वर्युं गृह्णीयाद्	३।७।४५	१०६५
यत्राम्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमाना इवोत्तिष्ठन्ति	१।३।६	२३६

उद्धृत वचन	अ० पाद सूत्र	पृष्ठ
यथा गावो गोपायन्ति	१।४।५	३०३
यथाचमसमन्याँश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वे एव लिप्सन्ते	३।५।२८	९७३
यथाऽतिथये प्रद्रुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद् यदि उदिते जुहोति	२।४।८	६०२
यथा वै मत्स्योऽविदितो जनमवधूनुते, एवं वा एते अप्रज्ञायमाना जनमवधून्वते	३।६।२०	१०१७
यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते, यदभिचरन्ति श्येनेन	१।४।५	३०३
यथा संदंशेन दुरादानमादत्ते	,,	,,
यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति	१।४।४	२९७
यदनेन हविषा आशास्ते तदस्य स्यात्	३।२।१३	७३१
यदष्टाकपालो भवति	३।७।३५	१०८५
यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति	१।४।१७	३२७
यदा कर्मादयो विभक्त्यर्थास्तदा एकत्वादयो विशेषणत्वेन	३।४।१३	८८२
यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति	१।४।९	३११
,, ,, ,, ,, ,,	२।२।३	४४९
,, ,, ,, ,, ,,	३ ४।३७	९१८
यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति । तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नौ उपांशु पौर्णमास्यां यजन्	२।२।३	४४९
यदाजिमीयुस्ता आज्यानामाज्यत्वम्	१।१।४	२९३
यदान्यांश्चमसान् जुह्वति, अथैतस्य दर्भतरुणकेनोपहत्य जुहोति	३।५।४९	९९२
यदान्यांश्चमसान्नुन्नयन्ति, अथैनं चमसमुन्नयन्ति	३।५।५०	९९३
यदा वै पुरुषे न किञ्चनान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषो नश्यति, अथ मेध्यतमः	३।८।१०	१११२
यदाहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति	२।३।४	५४४
,, ,, ,, ,, ,, ,,	३।४।२९	९०२
यदि अग्निष्टोमो जुहोति, यदि उक्थः परिधिमनक्ति	३।६।४६	१ ४५
यदि अग्निष्टोमो जुहोति, यदि उक्थ्यः परिधिमनक्ति, यदि अतिरात्रः, एतदेव यजुर्जपन् हविर्धानं प्रतिपद्येत	३।६।४२	१०४०
यदि कामयेत वर्षेत् पर्जन्य इति नीचैः सदो मिनुयात्	३।८।१३	१११५
यदि दाक्षायणयाजी स्यात् अथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत अत्र ह्येव सा [सम्पत्] सम्पद्यते	२।३।९	५५४

१. अत्र 'स यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेद्......तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्' इत्युद्धरणमग्रे द्रष्टव्यम् ।

उद्धृत वचन	अ० पाद सूत्र	पृष्ठ
यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते	३।७।४३	१०६३
,, ,, ,, ,,	३।८।३१	११४४
यो निहनत् तं सहस्रेण यातयात्	३।४।१७	८९०
यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवति	१।२।१०	१४८
यो ब्राह्मणायावगुरयेत् तं शतेन यातयात्, यो निहनत् तं सहस्रेण यातयात्, यो लोहितं करवत् यावतः प्रस्कन्दय पांशून् संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानीयादिति । तस्मान्न ब्राह्मणायावगुरयेद् न निहन्याद् न लोहितं कुर्यात्	३।४।१७	८९०
यो लोहितं करवत् यावतः प्रस्कन्दय पांशून् संगृहणात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानीयात्	,,	,,
यो वाऽध्वर्योः स्वं वेद स्ववानेव भवति । एतद्वाध्वर्योः स्वं यदाश्रावयति	३।७।४२	१०६२
यो वाऽध्वर्योः स्वं वेद स्ववानेव भवति । स्रुग्वाऽध्वर्योः स्वं, वायव्यमस्य स्वं, चमसोऽस्य स्वम्	३।७।४८	१०६७
यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽशृतः स रौद्रः, यः शृतः स दैवतः । तस्मादविदहता श्रपयितव्यं सदेवत्वाय	१।२।२४	१७४
,, ,, ,, ,, ,,	३।४।११	८७४
यो वृष्टिकामो यौऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत, सर्वे वै कामाः सौभरे	२।२।२८	५१६
योऽशृतः स रौद्रः	१।२।२४	१७४
,, ,, ,,	३।४।११	८७४
यो होता सोऽध्वर्युः	३।८।२१	११२८
रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति	२।४।८	६७५
राजा राजसूयेन	१।३।१८,१९	२५७
राजा राजसूयेन यजेत	२।३।३	५३८
राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत	,,	५३३
राष्ट्रभृतो जुहोति	३।४।२५	९०१
रोहितके वध्नाति	२।२।१७	४८०
लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति	३।१।१२	६५६
लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति	३।८।१२	१११५

१. अत्र 'यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेद् न्यग्रोधस्तिभीः सम्मिष्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्' इत्यपि (पृष्ठ ४३) द्रष्टव्यम् ।

उद्धृत वचन	अ० पाद सूत्र	पृष्ठ
हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय, ऊ इति स्वर्गकामाय	२।२।२८	५१६
हृदयस्याग्रेऽवद्यति	३।३।३६	८५१
हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः	२।१।३२	४१२
,, ,, ,, ,,	२।२।१७	४७७
हेतुर्वचनं निन्दा प्रशंसासंशयो विधिः । परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना ॥ उपमानं दर्शते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु । एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥	२।१।३३	४१४
हेतुहेतुमतोर्लिङ्	२।३।१	५३०
होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम्	२।१।३३	४१४
होता प्रातरनुवाकं ब्रूते	३।७।२२	१०६७
होतारं वृणीते	३।७।२४	१०६९
होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत	३।५।३७	९८०
होतेव नः प्रथमः पाहि	,,	९८१
होममाश्रितो गुणः फलं साधयिष्यति	२।२।२६	५०५

—:०:—

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा
प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. **बौधायन-श्रौतसूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास-प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायण कृत भाष्य सहित (संस्कृत)।

२. **बौधायन-श्रौतसूत्रम्**—(आधान-प्रकरण)—सुबोधिनीवृत्ति और आधान प्रक्रिया सहित (संस्कृत)।

३. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेनकृत भाषार्थसहित। दर्श- पौर्णमास समस्त श्रौतयज्ञों की प्रकृति रूप है। इसके परिज्ञान से अन्य यज्ञों की प्रक्रिया जानने में सहायता मिलती है।

४. **श्रौतपदार्थनिर्वचनम्**—(संस्कृत)—अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त अध्वर्यु, ऋत्विक् सम्बन्धी यज्ञ में क्रियमाण सभी पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ।

५. **श्रौतयज्ञ-मीमांसा**—(संस्कृत-हिन्दी)—लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इसमें श्रौतयज्ञों की उत्पत्ति, प्रयोजन, उनमें परिवर्त्तन तथा पशुयज्ञों पर विस्तार से विवेचना की गई है।

६. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय**— लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक, डॉ० विजयपाल। इस ग्रन्थ में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग, चातुर्मास्य और वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। अन्त में चितियों के चित्र भी दिये हैं।

७. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञसमीक्षा**— लेखक— पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय।

८. **शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा**— लेखक—पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय।

९. **शतपथ के दशपथ**—(दो भाग) डॉ० वेदपाल सुनीथ।

१०. **कात्यायन-गृह्यसूत्रम्**—(मूल)

११. **संस्कार-विधि**—ऋषि दयानन्द सरस्वतीकृत।

१२. **संस्कार-भास्कर**—संस्कार-विधि की स्वामी विद्यानन्द सरस्वती कृत व्याख्या।

१३. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**—वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। संस्कार-विधि की व्याख्या।

१४. **वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश**—पं० बाला जी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। इसी का गुजराती अनुवाद संशोधित संस्कार-विधि का आधार बना।

१५. **वैदिक-नित्यकर्मविधि**—व्याख्याकार—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। सन्ध्यादि पञ्च महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों की पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित।

१६. **पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्द सरस्वती कृत।

१७. **सन्ध्योपासन-अग्निहोत्रविधि**—(हिन्दी-अंग्रेजी व्याख्यासहित)—अनुवादक—डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि।

१८. **वैदिकयज्ञों का स्वरूप**—लेखक—डॉ० कृष्णलाल।

१९. **आश्वलायनसूत्रप्रयोगदीपिका**—सम्पादक—ब्र० धर्मवीर विद्यावारिधि। इसमें आश्वलायन श्रौतसूत्रानुसार श्री मञ्चनाचार्य ने श्रौतयागों में दर्शपूर्णमासेष्टि से लेकर अश्वमेधादि यज्ञों का संस्कृत में विवेचन किया है। परिशिष्ट एवं टिप्पणियों से युक्त।

२०. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**—सम्पादक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। शतशः टिप्पणियों से युक्त।

२१. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषि दयानन्द कृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण। इसमें ऋषि दयानन्द के भाष्य का शुद्ध पाठ और उसकी पुष्टि में प्रतिमन्त्र प्रमाण दिये गए हैं। मन्त्रों के पदों की सस्वर व्याकरणप्रक्रिया लिखी गई है।

२२. **माध्यन्दिनपदपाठः**—(यजुर्वेद-पदपाठ)

२३. **तैत्तिरीयसंहिता**—(मूलमात्र)—मन्त्रसूचीसहित

२४. **तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः**—दाक्षिणात्यपाठानुसारी।

२५. **गोपथब्राह्मण** (मूल) सं०—डॉ० विजयपाल जी विद्यावारिधि। सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण।

२६. **वैदिक-निघण्टु-संग्रह**—सं०—डॉ० धर्मवीर विद्यावारिधि। इसमें कौत्सव्य और यास्कीय निघण्टु के साथ भास्कर राय विरचित **वैदिक कोश,** वेंकटमाधवकृत **आख्यातानुक्रमणी** और **नामानुक्रमणी** भी हैं।

२७. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**—(प्रथमभाग)—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित १९ वेदविषयक निबन्धों का अपूर्व संग्रह।

२८. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**—(द्वितीयभाग)—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा विभिन्न समयों में लिखित वेदाङ्गादि- विषयक निबन्धों का संग्रह।

२९. **वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञामीमांसा**—(संस्कृत-हिन्दी)—
लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इसमें सप्रमाण दर्शाया गया है कि मन्त्रों की ही वेद संज्ञा है। ब्राह्मणग्रन्थों में वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा पारिभाषिक

और केवल यज्ञीय प्रकरण तक ही सीमित है।

३०. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। वैदिक छन्दःशास्त्र सम्बन्धी पाँच प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर प्रत्येक छन्द के भेद-प्रभेद और उदाहरण दिये हैं।

३१. **वैदिक-स्वरमीमांसा**—लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। वेद में प्रयुक्त उदात्तादि स्वरों का विस्तृत विवेचन किया गया है। स्वर-शास्त्र के अज्ञान के कारण होने वाली भूलों का निदर्शन एवं स्वरभेद से होने वाले अर्थभेद को दर्शाया है।

३२. **वेदार्थ-भूमिका** (हिन्दी)—स्वामी विद्यानन्द सरस्वती।

३३. **वेदार्थ-भूमिका** (संस्कृत)—स्वामी विद्यानन्द सरस्वती।

३४. **वेदार्थ-भूमिका** (संस्कृत-हिन्दी)—
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती।

३५. **वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार**—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक।

३६. **यजुर्वेद-भाष्य-संग्रह तथा अपाणिनीयपदविमर्श।**

३७. **वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय, वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा**—लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक

३८. **देवापि और शान्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—
लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु।

३९. **वेद और निरुक्त**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु।

४०. **त्वाष्ट्री-सरण्यू के आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—
लेखक—पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य।

४१. **वेद के आख्यानों का यथार्थ स्वरूप**—लेखक—वैद्य रामगोपाल शास्त्री।

४२. **कतिपय वैदिक शब्दों के अर्थों की मीमांसा**—
लेखक—ईश्वर चन्द्र जी विद्यासागर।

४३. **वैदिक-जीवन**—पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्त्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याय योग्य ग्रन्थ। सुन्दर आकर्षक जिल्द।

४४. **वैदिक-गृहस्थाश्रम**—पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्त्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ।

४५. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या। इसमें वर्णों के शुद्ध उच्चारण के लिए स्थान-प्रयत्नादि का विधान है।

४६. **शिक्षासूत्राणि**—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र-शिक्षा-सूत्र।

४७. **शिक्षा-कल्प-आर्ष-चिन्तनम्**—आचार्य धर्मवीर।

४८. **वर्णोच्चारण शिक्षा चिन्तनम्**—आचार्य धर्मवीर।

४९. **शिक्षा-शास्त्रम्**—आचार्य उदयन मीमांसक।

५०. **निघण्टु-निर्वचनम्**—देवराजयज्वाकृत निघण्टु—व्याख्या। सम्पादक—डॉ० सुद्युम्न आचार्य। संशोधक—डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि।

५१. **निरुक्त-श्लोकवार्तिकम्**—(संस्कृत)—सम्पादक—डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि। केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। एकमात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में निरुक्तशास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है।

५२. **निरुक्त-समुच्चय**—(संस्कृत)—आचार्य वररुचि विरचित। इसमें चार कल्पों में १०० मन्त्रों की नैरुक्तप्रक्रियानुसार व्याख्या की गई है। सम्पादक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक।

५३. **निरुक्त-शास्त्रम्**—(हिन्दी-व्याख्या) पं० भगवद्दत्त जी।

५४. **यास्कीय-निघण्टुः श्लोकीकृतः**—आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र

५५. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः**—(मूल)।

५६. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः**—(यतिबोधयुक्तः)।

५७. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः**—(मूल, गुटका-आकार)।

५८. **अष्टाध्यायीभाष्य**—(संस्कृत-हिन्दी)—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। इसके संस्कृत भाग में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति, समास और आने वाली अनुवृत्ति का निर्देश करके सरल संस्कृत में सूत्र की वृत्ति और उदाहरण दिये हैं। प्रत्येक भाग के अन्त में उदाहरणों की सिद्धि की प्रक्रिया दर्शाई है।

५९. **धातुपाठः**—(धातुसूचीसहित)।

६०. **क्षीरतरङ्गिणी**—क्षीरस्वामी कृत। पाणिनीय धातुपाठ की सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या।

६१. **धातुप्रदीप**—मैत्रेयरक्षितविरचित पाणिनीय धातुपाठव्याख्या।

६२. **संस्कृत-धातु-कोष**—सम्पादक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। पाणिनीय धातुओं का हिन्दी में अर्थनिर्देश।

६३. **संस्कृत-वाक्य-प्रबोध**—स्वामी दयानन्द सरस्वती।

६४. **माधवीय-धातुवृत्ति**—आचार्य सायण रचित, धातुपाठ की प्रामाणिक व्याख्या। नवीन संशोधित, शुद्धतम संस्करण। सहस्रों टिप्पणियों से युक्त। सम्पादक—डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि।